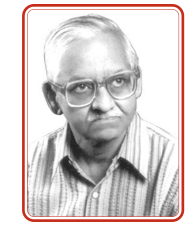

(1936–2009)

लेखक :
डॉ० शम्भू नाथ
एम.एस.सी (गणित)
पी.एच.डी. (एस्ट्रो फिजिक्स).

जीवन क्या है?

पांचवां भाग

प्रकाशक
ध्यान सत्संग सभा
पंजीकरण संख्या : 280/2013
हिसार (हरियाणा), मो. : 09416164702, 09416041346
Facebook : dhyansatsangsabha@gmail.com

प्रस्तावना

'जीवन क्या है?' पिछली चार पुस्तकों द्वारा जनवरी 1990 से दिसम्बर 1998 तक 'ध्यान पत्रिका' में छपे हुए लेखों को पुनर्मुद्रित किया जा चुका है।

> **जनवरी 1999 से दिसम्बर 2000 तक की दो वर्षों की 'ध्यान पुस्तिका' में डॉ० शम्भूनाथ द्वारा प्रकाशित लेखों का सार वर्तमान जीवन क्या है? 'पांचवां भाग' के रूप में प्रस्तुत है।**

डॉ० शंभुनाथ जी हमारे घर, प्रतिमास आकर ध्यान पत्रिकाओं के लिए मुझे लेख लिखवाया करते थे। ये लेख, वे प्राय: लेटे लेटे बोलते रहते और मैं लिखता और समझता भी रहता था। वे किसी पुस्तक आदि से पढ़ या सुनकर नहीं बोलते थे। कभी कभी रामचरितमानस की चौपाई अथवा गीत का श्लोक भी मेरे कहने से लिखवा देते थे। अपने अन्दर से निकले भावों को डॉ० साहब आध्यात्मिक कहते थे। ये अन्दर से उठे भाव, जो पुरातन काल में उस समय की भाषा में लिखे गए-उनको आज की सरल भाषा में समझाने का उनका लक्ष्य था।

डॉ० शभुनाथ जी का कहना था कि आध्यात्मिक, आदिकाल से अब तक और अब से आगे, सदैव एक ही रहेगा। केवल भाषा, समय, समाज आदि की सुविधा के लिए कहने और लिखने का तरीका बदल जाता है। ध्यान पत्रिकाओं के छपे लेख लुप्त न हो जाएं, इसलिए उनके लिए क्रम से 'जीवन क्या है?' चार भाग लिखे। उनके निधन के बाद शेष लेखों को पुस्तकों के रूप देने का बीड़ा श्री सुरेश कुमार जी गुप्ता ने उठाया है। यह पुस्तक 'जीवन क्या है? भाग-5' छापी जा रही है। भगवान् से प्रार्थना है कि बाकी उनके सभी लेखों को पुस्तक रूप देने की शक्ति, वे हमें प्रदान करें।

–डा० बलदेव राज नाशा

विषय-सूची

क्रमांक		पृष्ठ संख्या	
~~1.~~	~~सच्चिदानन्द~~	~~3–12~~	**अक्टूबर, 2017**
~~2.~~	~~ब्रह्मज्ञान~~	~~13–29~~	**नवम्बर, 2017**
~~3.~~	~~लौकिक अलौकिक~~	~~30–37~~	**अक्टूबर, 2017**
~~4.~~	~~अदृश्य और ब्रह्म~~	~~38–44~~	**दिसम्बर, 2017**
~~5.~~	~~ब्रह्मा, विष्णु और महेश~~	~~45–59~~	**दिसम्बर, 2017**
~~6.~~	~~शान्त चेतना~~	~~60–68~~	**जनवरी, 2018**
~~7.~~	~~मानव तन~~	~~69–78~~	**जनवरी, 2018**
~~8.~~	~~आत्मा~~	~~79–86~~	**फरवरी, 2018**
~~9.~~	~~अद्वैतम~~	~~87–94~~	**फरवरी, 2018**
~~10.~~	~~सूक्ष्मदर्शिता~~	~~95–100~~	**मार्च, 2018**
~~11.~~	~~आत्मदर्शन~~	~~101–109~~	**मार्च, 2018**
~~12.~~	~~जीवन, रस का भण्डार~~	~~110–117~~	**अप्रैल, 2018**
~~13.~~	~~जीवन रस और शरीरिक चक्र~~	~~118–124~~	**अप्रैल, 2018**
14.	आत्म जागृति	125–132	
15.	'मैं' की जागृति	133–139	
16.	जागृत 'मैं'	140–147	
17.	मन का सागर	148–153	
18.	प्राकृतिक यज्ञ	154–161	
19.	निज कृत कर्म, भोग सब भ्राता	162–168	

सच्चिदानन्द

सारे कर्म; दो कर्मों में विभाजित हो जाते हैं –

'मैं' रहित कर्म और 'मैं' सहित कर्म।

पहली तरह के कर्म में, करने वाले के 'मैं' का अस्तित्व नहीं रहता।

इसलिए कामनाओं के साथ कर्म की सम्भावना नहीं रहती।

ये ही निष्काम कर्म हैं।

ये कर्म, बुद्धि से परे–अर्थात् पराजगत के कर्म हैं

और ये कर्म पराजगत को संवारने के माध्यम हैं।

मन की गति चक्रीय होती है और बुद्धि के अन्तर्गत विचरण करते करते – पहले भावातीत होती है, फिर भावों के क्षेत्र में विचरण करती है और तब, बुद्धि के क्षेत्र में वापस आती है।

ये निष्काम कर्म किस प्रकार से, प्राणियों को लाभप्रद होते हैं?

निर्गुण निराकार, पहले अनन्त जड़ों को जन्म देता है। जब ब्रह्मतत्व, निर्गुण निराकार जड़ों में प्रवेश करता है – तब अनन्त जड़ें, इन्द्रिय जगत और पराजगत के अनन्त प्रकार के अस्तित्व को जन्म देती हैं। प्राणी के जीवन में मन; भावातीत होकर जब परा और क्रियाओं के क्षेत्र में अपनी इच्छाओं के साथ प्रवेश करता है – तो जिन इच्छाओं के साथ ऐसा होता है – उन इच्छाओं की पूर्ति के बीज पराजगत में पड़ते हैं – भले ही इन इच्छाओं की पूर्ति भावों के क्षेत्र की हो, या क्रियाओं के क्षेत्र की। इस तरह से हम देखते हैं कि;

अनन्त प्रकार की वस्तुओं के साथ साथ अनन्त इच्छाओं की पूर्ति की संभावनाएं; किस प्रकार निष्काम कर्म के माध्यम से उत्पन्न होती हैं?

इन समस्त इच्छाओं और अनुभवों की अपनी एक अलग पहचान होती है। इन अलग अलग पहचानों का आधार – ब्रह्मतत्व का गुण – 'सत्' होता है। इसको अच्छी तरह समझने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं –

चीनी, गुड़, आम, जामुन, बेसन और खोये की मिठाइयां इत्यादि, सभी मीठे हैं। लेकिन सबकी मिठास अलग अलग है और इन अलग अलग मिठाई को पहचानने के लिए, मात्र सजग स्वाद–इन्द्रिय की आवश्यकता है। इन अलग अलग मिठाइयों की पहचान में ही;

ब्रह्म तत्व का गुण –'सत्' अनुभव होता है।

इस तरह से समझना आसान है कि; सच्चिदानन्द परमेश्वर के गुण –'सत्' की सर्व व्यापकता का अनुभव–समाज के एक साधारण मनुष्य के लिए भी बहुत कठिन नहीं है।

सत् को अनुभव करने के लिए, मात्र अनुभव शक्ति की आवश्यकता होती है।

मात्र इन्द्रिय जगत में एक साधारण मनुष्य भी अनन्त क्षेत्रों के अनन्त प्रकार से परिचित है। दूसरे शब्दों में अनन्त प्रकार के क्षेत्रों का अनुभव, अनन्त तरह की चेतनाओं के अस्तित्व का प्रमाण है।

चेतना; जिसका स्रोत चित् है, ब्रह्मतत्व का दूसरा गुण है।

साधकगण यह भी आसानी से देख सकते हैं कि उपरोक्त दोनों गुणों के अनुभव में, अनन्त प्रकार शामिल हैं। यही इस बात का प्रमाण है कि

परमेश्वर हर क्षेत्र में अनन्त है।

हमारा नित्य जीवन हमें बताता है कि हम नित्य सोते हैं

और सोने के समय; जागृत अवस्था की ओर अग्रसर होते हैं।

अर्थात् इस समय क्रिया शक्ति बढ़ती है। मात्र जीवन का यह सत्य; प्रमाणित करता है कि

निष्काम कर्म ही हमारे नित्य के जीवन की ओर;

पराजगत की शक्ति को प्रवाहित करने में समर्थ है।

जागृत अवस्था में प्रवेश करते ही; हमारा 'मैं' हमारी कामनाओं की पूर्ति हेतु प्रयासपूर्ण कर्मों में व्यस्त होने लगता है। परिणामस्वरूप निष्काम कर्मों द्वारा प्राप्त

शक्ति या पराधन, व्यय होने लगता है।

हमारे अन्दर फिर से आराम की अभिलाषा जागृत होती है।

ज्यों ज्यों आराम (Relax) की अभिलाषा बढ़ती है – हम महसूस करते हैं कि रात्रि के गहरे आराम द्वारा हमें पराजगत का जो सुख प्राप्त हुआ था; वह कम होने लगा। उसके कम होने के साथ साथ हमारी इन्द्रिय जगत के सुख के भोग की अभिलाषाएं भी कम होने लगती हैं।

इस तरह से हम देखते हैं कि हमारा मन; जो सुख का भूखा है, वह पराजगत के सुख को इन्द्रिय जगत की व्यस्तता के समय व्यय कर देता है और इसी के साथ इन्द्रिय जगत के सुख के भोग की शक्ति भी खो देता है।

इस तरह से वह मन दोनों ही सुखों से वंचित होने के कारण; मूल सुख – अर्थात् पराजगत का सुख उत्पन्न करने हेतु गहरे आराम को ढूंढने लगता है। जीवन के ये सत्य, हमें बताते हैं कि किस प्रकार से एक सीनरी में बहुत से रंङ्गों का प्रयोग होता है। (लेकिन उसके आधार, रङ्ग का तो अपना ही महत्व होता है), हमारे जीवन में अनन्त प्रकार के इन्द्रिय सुख हैं, लेकिन इनका आधार – परासुख समाप्त होने के बाद, सारे सुख बेकार हो जाते हैं। इस तरह से परा सुख की अनुभूति, हमें परा सुख के महत्व का ज्ञान भी देती है। और यह परासुख, ब्रह्मतत्व का तीसरा गुण 'आनन्द' (Bliss) है।

हमने ऊपर देखा कि हम अपने जीवन के निरीक्षण के आधार पर परम परमेश्वर के गुण; सत्-चित्-आनन्द को अनन्त क्षेत्रों में नित्य घटते बढ़ते अनुभव कर सकते हैं।

यही विश्लेषण, हमें उसे अपने जीवन में बढ़ाने का रास्ता दिखाएगा। ऊपर हम यह भी देख चुके हैं कि

आराम सम्बन्धित कर्मों द्वारा ही; परमेश्वर की शक्ति बढ़ती है।

यद्यपि हमें उसका ज्ञान नहीं होता और प्रयासपूर्ण कर्मों द्वारा यह शक्ति घटती है। फिर भी सारा संसार प्रयासपूर्ण कर्मों की ओर ही अग्रसर होता रहा है। समाज के

कुछ व्यक्ति विशेष, भले ही अपने जीवन में निष्काम कर्मों को बढ़ाने में सफल हुए हों। इसके दो कारण हैं –

1. पहला कारण यह है कि हमारे आराम सम्बन्धी कर्म, निद्रा के समय होते हैं–या यह कहें कि; ज्यों ज्यों हम आराम कर्म की ओर बढ़ते हैं – हमारी जाग कम होती जाती है। दूसरे शब्दों में अनुभव शक्ति घटती जाती है और इस घटती हुई अनुभव शक्ति के अन्तर्गत, ईश्वरीय ज्ञान असम्भव हो जाता है।

2. दूसरा कारण हमारे समाज में ऐसे आध्यात्मिक शिक्षकों की कमी है – जो श्रोता के स्तर पर अपने को लाकर, अपने शब्दों में अध्यात्म के मूल सिद्धान्तों को समझा सकें। समाज में ऐसे अध्यात्म शिक्षक ज्यादा मिलते हैं – जो पुराणों की भाषाओं और मान्यता प्राप्त व्यक्तियों की पुस्तकों में लिखी हुयी भाषा के द्वारा, आज के युग के श्रोता को अध्यात्म की शिक्षा देने की कोशिश करते हैं ।

हम इस शक्ति के ज्ञान की ओर कैसे बढ़ें?

मात्र इस ज्ञान की ओर बढ़ने के सहारे ही; हम अपनी क्रियाओं और अनुभव के क्षेत्र में परमेश्वर की शक्ति लाने में सफल होंगे। हर व्यक्ति; घोर निद्रा, स्वप्न और जागृत अवस्था में नित्य आता जाता है। मात्र जाग्रत अवस्था में ही वह क्रियाओं के क्षेत्र को अनुभव करने में सक्षम है। स्वप्न की अवस्था में वह केवल बुद्धि रहित कल्पनाओं के क्षेत्र को अनुभव करने में सक्षम है। लेकिन घोर निद्रा के समय वह मात्र ध्वनि द्वारा जागृत अवस्था में आ जाता है। इस तरह से यह समझना आसान है कि; ये तीनों अवस्थाएं चेतना की तुलनात्मक अवस्थाएं हैं।

इन तीनों में जागृत अवस्था में अनुभव शक्ति सबसे ज्यादा है।

सूक्ष्म क्षेत्र की शक्ति, स्थूल क्षेत्र की शक्ति से हमेशा ही बड़ी है।

स्पष्ट है कि सर्व शक्तिशाली परमेश्वर, सूक्ष्मतम में होगा।

सूक्ष्म क्षेत्र को अनुभव करने के लिए, हमें और बड़ी अनुभवशक्ति चाहिए; या यह कहें कि जागृत अवस्था में जो भी अनुभव शक्ति है, उससे ज्यादा बड़ी शक्ति चाहिए।

हमें केवल अनुभव शक्ति बढ़ानी है।

हम जानते हैं कि हमारे समस्त अनुभवों का आधार, हमारे विचार हैं। इसीलिए लेखक ने अपने सम्पर्क में आने वाले साधकों को सिखाया कि; समय निकालकर कुछ देर हम क्रियाओं के क्षेत्र को छोड़कर, केवल भावों के क्षेत्र में रहें। जो साधक काफी दिनों से अभ्यास कर रहे हैं – वे यह महसूस करने लगे हैं कि मात्र विचारों के क्षेत्र में मन, दो क्षेत्रों में विचरण करता है –

कभी उसका 'मैं' विचरण के समय अनुभव होता रहता है और धीरे धीरे वह भूल जाता है कि वह मात्र विचारों के क्षेत्र में विचरण के लिए बैठा था। थोड़ी देर के लिए 'मैं' के अस्तित्व का समाप्त होना – इस बात का प्रतीक है कि मन स्थूल से सूक्ष्म क्षेत्र की ओर विचरण करने लगा है। इस अभ्यास (Meditation) द्वारा हम अपने विचारों के सूक्ष्म स्तर को अनुभव करने की शक्ति बढ़ाते हैं। विचार भी स्थूल और सूक्ष्म स्तरों में बंटे हुए हैं। इस तरह से मन ज्यों ज्यों जागृत अवस्था में अपने विचारों के सूक्ष्म स्तरों को अनुभव करने लग जाता है – त्यों त्यों उस सूक्ष्म स्तर की शक्ति को भी अवश्य अनुभव करेगा। बहुत दिनों के अभ्यास के बाद, बहुत से साधक एक विशेष सुख के बढ़ने को अनुभव करने लगते हैं।

यह बढ़ता हुआ आनन्द (Bliss) सूक्ष्म जगत के अनुभव का प्रतीक है।

सूक्ष्म जगत का अनुभव, सूक्ष्म जगत के अनुभव की शक्ति है।

इस तरह से साधकगण के लिए यह समझना कितना आसान है कि; अब वह कुछ ऐसी चीजों को भी महसूस कर रहा है – जिन्हें ध्यान का अभ्यास (Meditation) शुरू करने से पहले – अर्थात् जब वह मात्र जागृत अवस्था में था – अनुभव करने लायक नहीं था। इसतरह से प्रमाणित है कि; ध्यान के माध्यम से हम एक नयी चेतना (आंतरिक चेतना) जागृत करते हैं–जो कि; क्रियाओं से सूक्ष्म क्षेत्र की है। दूसरे शब्दों में हमें परमेश्वर को अनुभव करने के लिए – जो चेतना अनिवार्य है, उस चेतना की ओर हम अग्रसर हो रहे हैं।

यह चौथी चेतना है।

मन जागते हुए आराम के अभ्यास के समय भावातीत होकर; अनुभव क्षेत्र में

वापस आता है। इस तरह से हमारे दोनों अनुभव क्षेत्र – पराजगत और क्रिया जगत में ब्रह्मतत्व को बढ़ाकर अनुभव क्षेत्र में, न बदलने वाले तत्व को; अनुभव करने योग्य अपने आपको बनाता है।

इस चौथी चेतना की चरम सीमा ही; हमें परमेश्वर को अनुभव करने योग्य बनाएगी और; इसके लिए हमें जागृत अवस्था में आराम करने का अभ्यास (Meditation) करना होगा।

अब हम साधकगण; अपनी साधना की ओर ध्यान ले जाएं और सोते समय जो आराम मिलता हैं – उस ओर भी ध्यान ले जाएं; दोनों की तुलना करें। हम रात्रि में आंखें बन्द करके, बत्ती बुझाकर केवल उस जगह आराम करते हैं – जहां कोई दूसरी क्रिया नहीं होती। अपनी साधना भी हम एकान्त में, अंधेरे में और आंख बन्द करके, मन को छुट्टा (Relax) छोड़ देते हैं। थोड़ी देर के लिए हम देखते हैं कि हमारा 'मैं' गायब हो गया है, यद्यपि हम सो नहीं रहे थे। सोते समय भी हमारा 'मैं' गायब हो जाता है। जागते समय; हम थोड़ी देर के लिए वापस आ जाते हैं। अर्थात् मेरा 'मैं' वापस आ जाता है और बाद में, फिर खो जाता है। जब हमारा 'मैं' गायब रहता है – उस समय किसी भी प्रयास की संभावना, असंभव है।

इस साधना का अभ्यास करने से हमारे 'मैं' के गायब होने का समय बढ़ता है। इसीलिए भ० गीता में भी यह लिखा है कि योगी जागते हुए भी सोता है।

ऊपर हमने देखा कि भावातीत चेतना अर्थात्; भावातीत को अनुभव करने वाली चेतना क्या है? और न बदलने वाले तत्व को बदलने वाले क्षेत्र में लाकर, उसे अनुभव करने की चेतना कैसे उत्पन्न करें?

भावातीत चेतना वास्तविक है या काल्पनिक?

काल्पनिक; केवल उसे कहते हैं – जो स्वप्न के समय तो अनुभव होता है, लेकिन जागृत अवस्था आते ही; समाप्त हो जाता है। ऊपर हमने भावातीत क्षेत्र या न बदलने वाला क्षेत्र; अर्थात् ब्रह्म को जागृत अवस्था में अनुभव करने की विधि का निरीक्षण किया। यही इस बात का प्रमाण है कि

ब्रह्म; एक वास्तविकता है – कल्पना नहीं है।

हम यदि अपनी तीनों अवस्थाओं का निरीक्षण करें; तो हम देखेंगे कि जब हम जागृत अवस्था में रहते हैं – तब निद्रा की ओर बढ़ते रहते हैं। लेकिन जागृति और निद्रा के बीच में कहां रहते हैं – इसका ज्ञान नहीं हो पाता। इसी प्रकार से जब निद्रा में रहते हैं – तब स्वप्न की ओर आगे बढ़ते हैं। लेकिन स्वप्न का शुरू होना, पता नहीं लग पाता। स्वप्न से अचानक जागृत अवस्था में आते हैं; लेकिन स्वप्न और जागृत अवस्था के मिलाप की अवस्था का ज्ञान नहीं हो पाता। यह विश्लेषण हमें बताता है कि; ये तीनों अवस्थाएं तुलनात्मक चेतनाएं हैं और; इनकी उत्पत्ति केवल चेतना के समुद्र से ही हो सकती है। यह बौद्धिक विश्लेषण हमें बताता है कि; न बदलने वाला क्षेत्र अर्थात्

ब्रह्म या परम परमेश्वर – एक चेतना का सागर है।

यहां से अलग अलग तरह की तुलनात्मक चेतनाएं निकलती हैं। ये चेतनाएं हर प्रकार से अनन्त हैं। निद्रा की अवस्था, स्वप्न की अवस्था, या जागृत अवस्था – इन तीनों में से किसी भी चेतना की सीमाओं को निर्धारित करना असंभव है।

असीम, केवल असीम निकाल सकता है।

वह चेतना; जो कई तरह की असीम तुलनात्मक चेतनाओं को जन्म दे सकती है – निश्चय ही असीम ही होगी। हर चेतना में विचार हैं और; ये भी अनन्त प्रकार के हैं। अर्थात् ये इस सत्य की पुष्टि करते हैं कि; भावातीत क्षेत्र की चेतना अनन्त ही होनी चाहिए।

प्रकृति की हर रचना असीम है।

प्रकृति द्वारा रचित अनन्त जड़ों में मन; सबसे सूक्ष्म और महत्वपूर्ण जड़ है।
अत: स्वयं मन की बनावट, समुद्र रूपी होती है। मन की आयु भी अनन्त वर्षों की होती है। इन अनन्त वर्षों की आयु के अन्तर्गत – वह मन, जिस जीवात्मा से जुड़ा होता है – उसके उत्थान हेतु; न मालूम कितनी बार जीवात्मा, शरीर धारण करती है।

हर जन्म में कुछ संचित कर्मों के प्रभाव मन पर पड़ते हैं।

मन, पराजगत का एक बर्तन होता है – जिसमें पिछले जन्म के संचित कर्म और

ब्रह्मतत्व पिरोये होते हैं। ज्यों ज्यों संचित कर्म बढ़ते हैं – ब्रह्मतत्व कम होता जाता है। अत: ब्रह्मतत्व और संचित कर्मों की अवस्थाएं, हमारे चेतस्तर की अवस्था को निर्धारित करती हैं। साधना के समय; यह चेत स्तर ही – सूक्ष्म जगत में विचरण करके; फिर स्थूल जगत में वापस आता है। ऐसा बार बार होने से, हमारे संचित कर्मों में कमी होती है और हमारा चेत स्तर; धीरे धीरे सूक्ष्म स्तर पर स्थायी रूप में रहकर – इन्द्रिय जगत में विचरण करने का अभ्यास करता है। अभ्यास बढ़ने के साथ एक समय आता है, जब वह विचार उद्गम स्थान पर रहकर – क्रियाओं के क्षेत्र में विचरण करने में सक्षम होता है। इस बौद्धिक विश्लेषण का अनुभव, हम अपनी साधना के क्षेत्र (Meditation Field) में तब करते हैं – जब हमें अनुभव होता है कि हमारी साधना, हमारी तीनों अवस्थाओं (अर्थात् घोर निद्रा, स्वप्न और जागृत अवसथा) को संवार रही है। साधक धीरे धीरे अनुभव करता है कि

जब उसने साधना शुरु की थी – तब उसकी निद्रा;
इतनी गहरी नहीं थी, जितनी साधना के बाद होने लगी है।

इसी प्रकार से वह जागृत अवस्था में परासुख की वास्तविकता का अनुभव करने लगता है। ये इस बात के प्रमाण हैं कि हमारी तुलनात्मक चेतनाएं, जो कि हमारे जीवन का आधार हैं – कुछ नए नए अनुभवों के साथ संवारने लगी हैं। उसके जीवन के अलग अलग क्षेत्र–जैसे आर्थिक क्षेत्र, दूसरे मित्रों और रिश्तेदारों का क्षेत्र, स्वास्थ्य का क्षेत्र इत्यादि, पहले से ज्यादा संवरता हुआ दिखाई पड़ता है।

भावातीत क्षेत्र को अनुभव करना – यह चौथी चेतना है। लेकिन भावातीत क्षेत्र हमारे सोने, जागने और स्वप्न की चेतनाओं को संवारने लगे और धीरे धीरे इन तीनों चेतनाओं के साथ साथ चौथी चेतना का अनुभव भी हर समय बना रहे- तो यह पांचवीं चेतना होगी।

हम अच्छी तरह जानते हैं कि पूरी सृष्टि; स्थूल और सूक्ष्म पर्तों में बांटी जा सकती है। इसी प्रकार से हर वस्तु के भी स्थूल और सूक्ष्म पर्त हैं; जैसे – अणु का स्तर, परमाणु का स्तर, इलेक्ट्रॉन्स का स्तर, न्यूकिलियस का स्तर; फिर न्यूकिलियस के

धनात्मक और ऋणात्मक चार्जेज का स्तर। इसी प्रकार से मनुष्य के भाव भी; सूक्ष्म और स्थूल स्तरों में बंट जाते हैं। ज्यों ज्यों मनुष्य के सूक्ष्म भावों का स्तर; और संवरता है – वह और सूक्ष्मदर्शी होता चला जाता है। सूक्ष्मदर्शिता के बढ़ने के साथ साथ वह सूक्ष्मतम ब्रह्म तत्व का प्रभाव, अपनी सूक्ष्म धाराओं में अनुभव करना शुरू कर देता है और; जब उसे ऐसा अनुभव होता है – तभी वह क्रियाओं के क्षेत्र में, पूर्ण समर्पण की ओर चलता है।

जीवन में भौतिक विश्लेषण का महत्व गायब होता है और

मात्र 'होने की शक्ति' पर विश्वास दृढ़ होता जाता है।

यह ऊपर बतायी गयी पांचों चेतनाओं से बिल्कुल भिन्न चेतना होती है।

इस चेतना के अन्तर्गत, मनुष्य की ईश्वर पर पूर्ण आस्था जागृत हो जाती है। केवल वह समय को जीतने में असफल रहता है। इसका कारण केवल यह होता है कि; छठी चेतना में भी सूक्ष्मतम स्तर का अनुभव – हमारी इच्छाओं के हर स्तर पर नहीं आ पाता।

साधना में बहुत दूर निकल जाने के बाद – जब हमारी इच्छाओं और भावों के हर स्तर पर 'मैं'; ब्रह्म तत्व से तरबतर हो जाता है – मात्र तब वह समय को भी जीत लेता है।

यह मनुष्य की सातवीं चेतना की संभावना है।

इस चेतना में कुछ समय रहने के बाद; वह पूर्णरूप से ब्रह्मस्वरूप हो जाता है–अर्थात् उसे अपनी इच्छा के अनुरूप जीवन जीने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है।

एक साधारण मनुष्य; किस प्रकार से परमेश्वर की सर्व व्यापकता पर अपना विश्वास जागृत करे?

परमेश्वर; जो आलौकिक (अर्थात् अनुभव से परे) है, उसको अनुभव के क्षेत्र में लाकर; कैसे पूर्ण रूप से अनुभव करें? इस रास्ते पर हमारे अन्दर चार प्रकार की नयी चेतनाएं जागृत हो जाती हैं – इन चेतनाओं के जागृत होने के साथ नए नए स्तरों के अनुभव असीम तक जाते हैं।

इस तरह से असीम को असीम के रूप में

अनुभव करने की चेतना जागृत हो जाती है।

इस चेतना के जागरण के साथ साथ हमारे अन्दर ब्रह्म तत्व का तीसरा गुण – परासुख; अर्थात् आनन्द (Bliss) भी बढ़ता चला जाता है। हमारा 'मैं'; इस आनन्द की ओर खिंचता है। यही आन्तरिक खिंचाव है। इन्द्रिय सुख (Pleasure), मन को हमेशा बाहर की ओर ही खींचेगा। यदि हम एक साधारण मनुष्य के जीवन का निरीक्षण करें – तो भी हम यही देखते हैं कि

सोते समय वह जागृत अवस्था की ओर अग्रसर होता है।

पूर्ण जागृत अवस्था प्राप्त होते ही; इन्द्रिय जगत में मन की गति ज्यादा से ज्यादा तीव्र हो जाती है। लेकिन इस गति का तीव्र होना ही; हमारे आराम की ओर खिंचने का आधार है – अर्थात् एक साधारण मनुष्य भी दो प्रकार के विरोधी खिंचावों के अन्तर्गत ही जीवन बिताता है। एक उच्च स्तर के साधक के साथ भी यही होता है– अन्तर केवल इतना है कि एक साधारण मनुष्य के जीवन में कम से कम जागृत अवस्था में, इन्द्रिय जगत का सुख, पराजगत के सुख पर हावी रहता है।

हमारी चौथी, पांचवीं, छठवीं और सातवीं चेतनाएं मात्र;

जागृत अवस्था की उच्च चेतनाएं हैं।

इन अवस्थाओं में रहने वाले व्यक्ति के जीवन में आन्तरिक खिंचाव, इन्द्रिय सुख पर हावी होता है। जब आन्तरिक सुख (Bliss) बाह्य सुख (Pleasure) पर हावी होता है – तब पराजगत की समस्याएं (अर्थात् मन का भय, बुद्धि की चिन्ताएं और शारीरिक रोग से उत्पन्न समस्याएं) समाप्त होती हैं। बाह्य जगत की समस्याएं, केवल इच्छा पूर्ति शक्ति के माध्यम से समाप्त होती हैं – क्रियाशक्ति के माध्यम से नहीं होतीं।

यही भ० गीता (9.22) द्वारा बताया हुआ श्री कृष्ण का योगक्षेम है।

जिस समय आनन्द पर 'मैं' समर्पित रहता है–मन में अपनी सारी भविष्य की कामनाएं, वर्तमान की समस्याएं और भूतकाल की यादें; भूली हुई अवस्था में रहती हैं। यदि वर्तमान में कोई समस्या हुई – तो उसको हटाने की इच्छा, जागृत हो जाती है और उसकी इच्छा शक्ति द्वारा; उसकी समस्या हट जाती है। ❑

ब्रह्मज्ञान

मात्र ब्रह्मज्ञान में ही समस्त क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान है।

ब्रह्मज्ञान और 'बुद्धि द्वारा अर्जित ज्ञान' में क्या अन्तर है?

और इनकी अनुभूतियों में क्या अन्तर है?

विषय ज्ञान में व्यस्त मनुष्यों की यह मान्यता है कि इस ज्ञान का कोई अन्त नहीं है। यदि यह पूरा जीवन, ज्ञान अर्जित करता रहे – तो भी इस ज्ञान का अन्त नहीं होता। समाज ऐसा मात्र; विषय ज्ञान के संबंध में कहता है।

बुद्धि द्वारा अर्जित ज्ञान, वास्तव में अपूर्ण है।

हम अपने मन की संतुष्टि के लिए ही क्रियाएं करते हैं।

अधिकतर व्यक्तियों की क्रियाओं का आधार, उनके बौद्धिक स्तर का ज्ञान ही होता है। उन सबकी अनुभूति यह है कि किसी भी व्यक्ति को पूर्ण संतुष्टि नहीं मिलती।

यही प्रमाण है कि बुद्धि द्वारा अर्जित ज्ञान, अपने आप में अपूर्ण है।

जब हम बाह्य जगत की ओर; अपना ध्यान ले जाते हैं – तो हमें अनन्त तरह की प्राकृतिक क्रियाओं का आभास होता है। जैसे–सूर्य, पृथ्वी और दूसरे ग्रहों की गतियां, आकाश में अनन्त तारागणों की गतिशीलता, युगों का बदलना, ऋतुओं का बदलना और सारे वनस्पति जगत की क्रियाएं इत्यादि।

हर मनुष्य दो जगतों से जुड़ा हुआ है;

इन्द्रिय जगत और पराजगत।

पराजगत में श्वास का चलना, खून का दौड़ना (रक्त संचार), पाचन क्रिया, मल मूत्र संबंधी क्रियाएं और स्वयं चेतना की हर अवस्था में मन का विचरण इत्यादि।

इस तरह से हम देखते हैं कि वे क्रियाएं – जो प्रकृति द्वारा होती हैं – अपने आप होती हैं – की, नहीं जातीं। व्यक्ति उन अवस्थाओं को भी अनुभव करता है– जब इन क्रियाओं में गलती की संभावना ही नहीं होती। तब वह उन अवस्थाओं को भी महसूस करता है – जब इन होने वाली क्रियाओं में भी कमियां आने लगती

हैं।

जीवन के ये सत्य हमें बताते हैं कि होने की शक्ति में क्रिया का पूर्ण ज्ञान है; बशर्तें होने की शक्ति में कमी न हो।

जब होने की शक्ति कम होती है – मात्र तब इन प्राकृतिक क्षेत्रों में भी उथल पुथल होती है। परिणाम यह निकला कि

प्रकृति में हर क्रिया का पूर्ण ज्ञान है।

यह ज्ञान ही ब्रह्म ज्ञान कहलाता है।

हर मनुष्य जब बुद्धि के क्षेत्र में रहता है – तो उसे अपने 'मैं' का एहसास होता है। उस समय उसकी सभी इच्छाएं उसके 'मैं' की ही होती हैं। अतः यदि उपरोक्त ब्रह्मज्ञान; 'मैं' अर्जित कर सके – तो वह निश्चय ही अपने 'मैं' को क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करा सकता है। ज्यों ज्यों प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation); जागते हुए एकान्त और अंधेरे में बैठकर, बढ़ता है – त्यों त्यों मन भावातीत क्षेत्र (Transcendental Field) के ब्रह्मतत्व को 'परा क्षेत्र' की ओर प्रवाहित करके उसे अपने में पिरोने में सफल होता है। ज्यों ज्यों वह अपने में ब्रह्मतत्व को पिरोकर जीवन की क्रियाओं में प्रवेश करता है – त्यों त्यों उसकी क्रियाओं को 'होने की शक्ति' का ज्ञान प्राप्त होने लगता है।

यह साधना हमारी घोर निद्रा, स्वप्न और जागृत अवस्था को संवारती है। धीरे धीरे जागृत अवस्था, चार तरह की उच्च आन्तरिक चेतनाओं को प्राप्त करती है।

इन आन्तरिक चेतनाओं में, क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान होता है।

इस तरह से हमारी चेतना, अपने आप में पूर्ण होती है। मन पराजगत में ही स्थित रहता है। ज्यों ज्यों परा चेतना पूर्णता की ओर बढ़ती है – मन की शक्ति (अर्थात् इच्छाओं को पूरा करने की शक्ति) भी धीरे धीरे बढ़ती है। अतः

अन्तिम अवस्था में इच्छाओं को पूर्ण करने की पूर्ण शक्ति; अवश्य प्राप्त हो जाएगी।

यह साधना धीरे धीरे आन्तरिक चेतना, के जागरण के साथ साथ ब्रह्मज्ञान को

प्रदान करती है। मन; चेतना की जिस अवस्था में रहकर क्रियाओं के क्षेत्र में वापस आता है – उस समय क्रियाओं के क्षेत्र में क्रियाशील 'मैं' को अपनी क्रियाओं का ज्ञान, अवस्था के अनुसार होता है – लेकिन यह ज्ञान जानने के स्तर पर, संभव नहीं है।

जैसे एक सरकारी नौकरी करने वाला व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि वह दफ्तर में कौन सा काम कैसे करेगा– एक बढ़ई जानता है कि उसके अन्दर तरह तरह के लकड़ी का सामान बनाने की क्षमता है; इसी प्रकार से हर प्रकार की क्रियाओं की क्षमता – बौद्धिक स्तर पर क्रियाशील रहने वाले व्यक्तियों को रहती है। परन्तु होने के स्तर पर ऐसा संभव नहीं है। किस पेड़ की पत्तियां कैसी होंगी– तना कितना मोटा या पतला होगा– पेड़ पूर्ण रूप से बड़ा होने के बाद कितना ऊँचा होगा– फूल और फल से संबंधित ज्ञान केवल पेड़ संबंधी क्रिया समाप्त होने के बाद इन्द्रियों द्वारा अनुभव करके जाना जा सकता है। लेकिन इन क्रियाओं का ज्ञान, क्रिया होने से पहले किसी को नहीं होता। बिल्कुल इसी तरह से

हमारे मन में कितनी तरह की इच्छाएं कब उठेंगी–

इन इच्छाओं को पूर्ण करने की क्षमता, उच्च स्तर की चेतना के व्यक्ति में होती है। उनकी ये इच्छाएं किन तरह की क्रियाओं के माध्यम से पूर्ण होंगी– इसका ज्ञान उसे होने के स्तर पर होता है; लेकिन जानने के स्तर पर सम्भव नहीं। अत:

पूर्ण ज्ञान, 'होने की शक्ति' में है।

हर व्यक्ति स्थूल क्रियाओं को ही, कर्म कहता है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि यदि क्रियाओं से संबंधित विचार, मन में न उठें – तो किसी भी तरह की क्रिया का होना असंभव होगा। अर्थात् सूक्ष्म स्तर के विचारों का मन में उठना ही, बाहर की सारी स्थूल क्रियाओं का आधार है और ये विचार मन में ही उठते हैं। इस तरह से समझना आसान है कि जिस प्रकार से वनस्पति जगत के सारे वृक्षों को जीवन देने वाला बीज, मात्र पृथ्वी में होता है। ये पृथ्वी और बीज भी, हमें वृक्ष और फल नहीं दे सकते; यदि पृथ्वी बंजर है। अर्थात् पृथ्वी में फल देने की शक्ति और फल देने वाला बीज, फल देने वाले वृक्ष के आधार हैं। इसी प्रकार से हमारे मन में इच्छा

पूर्ति शक्ति और इच्छा संबंधित विचार, आवश्यक हैं। इच्छा पूर्ति शक्ति में इच्छाओं को पूरा करने संबंधित क्रियाओं का ज्ञान, चेतना की अवस्था में है। ज्यों ज्यों हमारे 'मैं' को उच्च स्तर की चेतना प्राप्त होती है – जीवन के स्थूल जगत में समस्त क्रियाओं की परिस्थितियां उत्पन्न करने का ज्ञान, चेतना में है। इस चेतना शक्ति के कारण, स्थूल जगत में क्रियाएं होने लगती हैं; यद्यपि चेतना, जिसके माध्यम से क्रिया कराती है – स्वयं उसे उसका ज्ञान होना आवश्यक नहीं है।

उसकी कौन-सी क्रिया किन किन व्यक्तियों को कौन कौन सा फल कब दे देगी– इतनी अपार क्षमता, ब्रह्मज्ञान की होती है। यदि चेतना की अवस्था अन्तिम अवस्था नहीं है; बल्कि आन्तरिक चेतना की पहली अवस्था या दूसरी अवस्था है– तो इस अवस्था के अनुसार समय आने पर कुछ इच्छाएं पूरी हो जाएंगी।

इन इच्छाओं का कुछ ज्ञान संभव है या नहीं?

हर व्यक्ति के मन में अनन्त इच्छाओं के बीज अलग अलग स्तर पर पड़े रहते हैं, जो केवल समय आने पर उभरते हैं। जैसे – हम एक बच्चे को देखते हैं – तो उसकी इच्छाएं भी बच्चों की इच्छाओं जैसी होती हैं। ज्यों ज्यों बच्चे की आयु में वृद्धि होती है – उसकी इच्छाएं भी बदलती हैं। जब वह पूर्ण व्यक्ति बन जाता है – तभी यौन संबंधी इच्छाएं पैदा होती हैं। इसी तरह से जीवन आगे बढ़ता है और तरह तरह की इच्छाएं मन में उठती जाती हैं। इन इच्छाओं का आधार; हमारे वे प्रारम्भ कर्म होते हैं – जो हमारे वर्तमान जीवन का आधार होता है। हमारी चेतना शक्ति, हमारी इच्छाओं की पूर्ति–मात्र समय आने पर पूर्ण करती है।

प्रकृति में सबको सब कुछ देने का सिद्धान्त एक ही है।

चाहे किसी पेड़ को फल देना हो या किसी व्यक्ति की इच्छाओं को पूरा करना हो।

हर व्यक्ति का मन पराजगत की जमीन की तरह होता है।

चेतना शक्ति मन की शक्ति होती है।

इस शक्ति में ही ब्रह्मतत्व का ज्ञान होता है।

सृष्टि की समस्त इच्छाओं को पूरा करने का ज्ञान,

इस चेतना शक्ति में है।

पूर्ण चेतना के विकास में पूर्ण ज्ञान है।

आन्तरिक चेतना शक्ति में मन की इच्छाओं को पूर्ण करने का ज्ञान है और इन्द्रिय जगत की चेतना शक्ति में समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने का ज्ञान नहीं है। इसीलिए हम समाज में देखते हैं कि जो व्यक्ति बिना चेतना शक्ति जागृत किए, जीवन बिताते हैं – वे सफल नहीं होते; क्योंकि वे अधूरे ज्ञान के सहारे जीवन बिताने का प्रयत्न कर रहे हैं।

यही उनके जीवन का सबसे बड़ा भ्रम (Ignorance) है।

वनस्पति जगत में भी हर बीज अपना फल देता है – लेकिन समय आने पर देता है। इसी तरह से जब तक हमारी चेतना अन्तिम अवस्था तक नहीं पहुंच जाती– हमारी इच्छाओं की पूर्ति तत्काल होना असंभव है। चेतना विज्ञान अपूर्ण अवस्था में भी अनन्त है। गणित विद्या में भी विद्यार्थी यही पढ़ते हैं कि अनन्त में से अनन्त निकलने पर, अनन्त ही बचता है। इन्द्रिय जगत या क्रियाओं के जगत में अनन्त पहलू हैं। इन अनन्त पहलुओं की क्रियाओं का आधार, पराजगत की चेतना का विकास है। इस तरह से यह समझना आसान है कि एक अनन्त से अनन्त पहलू निकलते हैं। इन अनन्त पहलुओं के हर पहलू में अनन्त किस्में हैं और अनन्त तरह की क्रियाएं हैं। इन सारी क्रियाओं का ज्ञान, चेतना ज्ञान में है। चेतना ज्ञान हमें बताता है–कि चौथी अवस्था में भी अनन्त इच्छाओं की पूर्ति की शक्ति है।

पांचवीं चेतना में भी अनन्त इच्छाओं को पूर्ण करने की शक्ति है।

अन्तर केवल यह है कि इन इच्छाओं का स्तर अलग है। पांचवीं अवस्था में मन तुलनात्मक दृष्टि से; और सूक्ष्म जगत की स्थित इच्छाओं को पूरा करने में सफल हो जाता है।

इसी तरह से छठवीं अवस्था में; और सूक्ष्म स्तर की इच्छाओं को पूरा करने में मन सक्षम हो जाता है। ज्यों ज्यों मन सूक्ष्म स्तर पर रहता है – तुलनात्मक दृष्टि से इच्छाएं बड़ी होती हैं और; इनकी पूर्ति के लिए, और उच्च अवस्था की

चेतना की आवश्यकता हो जाती है। छठी अवस्था के अन्त तक मनुष्य उच्च कोटि का मनुष्य हो जाता है।

लेकिन मात्र सातवीं चेतना में वह ब्रह्मस्वरूप होने की ओर अग्रसर होता है। तभी समय भी उसे नमस्कार करता है और उसकी इच्छाएं तत्काल पूरी होने लगती हैं।

ब्रह्मतत्व के गुणों के आभास में ही; सृष्टि की समस्त क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान है। प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation), हमें इन गुणों का आभास करने में मदद करता है।

लेखक के साथ सत्संग में भाग लेने वाले साधक अच्छी तरह जानते हैं कि हमें एकान्त में, अंधेरे में बैठकर जागते हुए प्रयासहीनता का अभ्यास करना होता है। इस अभ्यास को शुरु करते समय हम अपने इष्टदेव का स्मरण भी करते हैं। एक साधारण व्यक्ति अपने नित्य के जीवन की ओर अपना ध्यान ले जाए – तो उसे ज्ञात होता है कि रात्रि में सोने के समय उसके अन्दर जाग की अवस्था बहुत निम्न होती है। जाग की यह निम्न अवस्था ही, उसे सोने के लिए मजबूर करती है। जब वह सोकर उठता है – तो वह देखता है कि उसके जाग की अवस्था में सुधार आ गया है। यदि हम अपनी नींद की अवस्था का निरीक्षण करें – तो हमें दो चीजों का ज्ञान होता है;

1. **पहला ज्ञान यह है कि स्वयं हम नहीं जानते कि हम सो रहे हैं और**
2. **दूसरा हम प्रयास करने की अवस्था में ही नहीं रहते।**

जीवन के ऐसे क्षण, जिनमें ये सत्य सम्मिलित हों – जीव में जाग बढ़ाते हैं। यह जीवन का एक बहुत बड़ा सत्य है। जाग बढ़ते बढ़ते जाग इस अवस्था तक पहुंच जाती है कि हमारी निद्रा टूट जाती है। अतः यदि निद्रा टूटने के बाद भी कुछ ऐसे क्षणों में ही रहें – जिन क्षणों में हमें अपना ही आभास न रहे। मात्र अपना आभस न होने के कारण – पूर्ण विश्राम स्वयं प्रकृति की देन है – अतः निश्चय ही हम; और उच्च अवस्था की जाग को प्राप्त हो जायेंगे।

जाग हमें अनुभव शक्ति प्रदान करता है।

जागृत अवस्था में आते ही मनुष्य बाह्य जगत की बहुत सी उन चीजों को अनुभव करने लगता है – जिन्हें अनुभव की क्षमता उसमें निद्रा या स्वप्न की अवस्था में नहीं थी। एक और बड़ा सत्य यह है कि जागृत अवस्था में हर व्यक्ति के अन्दर बहुत कुछ जानने की चाह रहती है। निश्चित रूप से यह चाह, केवल इसलिए रहती है; क्योंकि जागृत अवस्था में, हर उस चीज को अनुभव करने की जाग नहीं है– जिसे वह जानना चाहता है।

जागृत अवस्था में हर व्यक्ति के अन्दर बहुत कुछ पाने की चाह रहती है – लेकिन वह नहीं जानता कि; वह उन्हें कैसे पाये? जो चाहते हैं – उन्हें पाने का ज्ञान मात्र उच्च स्तर की जाग में है। जिस प्रकार से समाज में एक विद्यार्थी जिस कक्षा में होता है; उसी कक्षा से ऊंची कक्षा में जाने की अवस्था में रहता है। किसी दूसरी ऊंची कक्षा का ज्ञान उसे उनकी अवस्था से ऊपर नहीं ले जा सकता। बिल्कुल इसी तरह से जो व्यक्ति अपनी जाग बढ़ाने की विद्या के क्षेत्र का विद्यार्थी है – वह मात्र अपनी अवस्था की जाग से ही; और ऊंची जाग को प्राप्त कर सकता है। यह सत्य हमें ज्ञान देता है कि सोते सोते जब हम जागृत अवस्था में आते हैं – उस अवस्था से, और उच्च अवस्था की जाग प्राप्त करने के लिए, हमें जाग की उसी अवस्था में जाग बढ़ाने के क्षणों में आ जाना चाहिए। इस तरह से हमारी साधना, जाग बढ़ाने की साधना के रूप में बदल जाती है।

जागृत अवस्था की जाग को प्राप्त करने के बाद; जल्द ही जल्द हमें एकान्त में, अन्धेरे में आंख बन्द करके इष्टदेव को स्मरण करना है और; फिर प्रयासहीन होकर जागने की कोशिश किए बिना, जागते रहना है। लेकिन कुछ साधकों को यह गलत फहमी (Ignorance) भी हो सकती है कि हमें कुछ नहीं करना है–जो होना होगा, होगा। जब वे इस विचार से बैठते हैं – तब दो संभावनाएं होती हैं;

1. उठने पर कुछ साधक कहते हैं कि हमें कुछ नहीं पता कि बैठने के बाद क्या हुआ? ऐसे साधक निश्चित रूप से सो जाते हैं और इसीलिए उन्हें साधना का फल भी – या तो बहुत धीमी गति से मिलता है – या नहीं मिलता।

2. हमारी साधना में; जागते हुए बैठने पर जोर है। यद्यपि अपने को नींद से बचाने

की कोशिश न करना भी सिखाया जाता है और यह कहा जाता है कि यदि नींद आ जाये – तो दुबारा जागने के बाद से साधना शुरू करनी चाहिए। हम साधना में ठीक दिशा में चल रहे हैं – इसकी पहचान के लिए अलग अलग सत्संगों में यह भी बताया गया कि ज्यों ज्यों बैठने का समय बढ़ता है–हम महसूस करते हैं कि हमारा मन धीरे धीरे; और शान्त अवस्था की ओर अग्रसर होता है।

यह अनुभूति इस बात का सूचक है कि मन धीरे धीरे; और सूक्ष्म जगत में विचरण की योग्यता प्राप्त कर रहा है। इस अनुभव के समय; 'मैं' के खो जाने और उसके वापस आने का आभास भी अवश्य होगा। यह हमेशा समझाया गया कि जब 'मैं' का आभास वापस आ जाय–तो फिर इष्टदेव का स्मरण करें।

सूक्ष्म स्तर पर ये स्मरण भी कुछ सूक्ष्म प्रतीत होंगे।

इन स्मरणों का सूक्ष्म प्रतीत होना; उच्च जाग को प्राप्त होने का सूचक है। अभ्यास बढ़ने के साथ, केवल साधना में जागते हुए साधक ही इन अनुभूतियों का अनुभव करेंगे। ज्यों ज्यों साधक इन अनुभूतियों की सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होंगे – त्यों त्यों वे ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ेंगे।

सांसारिक विद्या के विद्यालयों में जाने वाले सारे विद्यार्थी उच्च शिक्षा को प्राप्त नहीं होते। बहुत से विद्यार्थी अनुत्तीर्ण होने के साथ उसी कक्षा में पड़े रह जाते हैं। इसी प्रकार से ध्यान का अभ्यास (Meditation) करने वाले, मात्र ब्रह्मज्ञान के विद्यार्थी होते हैं। जो विद्यार्थी अपने शिक्षक के बहुत समीप रहकर विद्या सम्बन्धी वार्तालाप (सत्संग) के लिए समय नहीं देते – अक्सर ऐसे विद्यार्थियों को मनचाही सफलता भी नहीं मिलती। वे यह मान लेते हैं कि हमें केवल कुछ समय नित्य चुपचाप बैठना है। उपरोक्त सूक्ष्म क्षेत्रों की अनुभूतियों की दिशा में हम आगे बढ़ें – या न बढ़ें; तो भी जीवन में अपने आप कुछ भी प्रतिकूल नहीं होगा।

यह सृष्टि दो भागों में बंटी है – (1) बदलने वाली दुनिया और (2) न बदलने वाली दुनिया। न बदलने वाली दुनिया ही आत्मा है, ब्रह्म है।

जाग को इतना बढ़ाना है कि न बदलने वाला, (जो भावों से भी परे है), हमारे अनुभव के क्षेत्र में आ जाये।

जो न बदलने वाला है - वह अखण्ड और अनन्त सत्ता है।

जो जीव, मात्र घोर निद्रा और स्वप्न में शक्ति अर्जित करके जागृत अवस्था में कठिन परिश्रम में, इस शक्ति का व्यय करके जीवन की सफलताओं को ढूंढ़ता है - वह सीमाओं में रहने वाली जीवात्मा है। यह जीवात्मा मात्र सीमाओं में केवल इसलिए रहती है; क्योंकि इसकी जाग केवल सीमाओं को अनुभव करने में सक्षम है।

अनन्त, केवल एक से निकलता है।

इसके उदाहरण बदलती हुई दुनियां में भी देखे।

अनन्त का लय उसी एक में हो जाता है।

इसी प्रकार से आत्मा एक है, जीवात्माएं अनन्त हैं।

अत: मात्र यह अनुभूति कि आत्मा एक है और जीवात्माएं अनन्त हैं; स्पष्ट प्रमाण देती है कि अनन्त जीवात्माएं, आत्मा से ही निकली हैं।

अनन्त से अनंत निकलने के बाद भी अनन्त रहता है।

गणित के विद्यार्थी भी इस सत्य से भली भांति परिचित हैं। आत्मा की अनन्त और अखण्ड सत्ता के अपने गुण हैं - जिनको हमने 'सच्चिदानन्द' में अध्ययन किया। लेखक द्वारा साधकों ने कई बार सुना कि आत्मा की यह अखण्ड और अनन्त सत्ता; मात्र जीवात्माओं का सुख बढ़ाने के लिए है।

सुख बढ़ाने के लिए ही; हम साधना करते हैं।

साधना करने के लिए, यह शरीर धारण करते हैं।

यह ब्रह्मज्ञान का एक बहुत ही आवश्यक ज्ञान है।

जो इस ज्ञान से परे हो जाते हैं - वे जीवन को मात्र इन्द्रिय सुख के साधन प्रदान करने में अपना जीवन गंवा देते हैं। यदि अनन्त जीवात्माओं को शरीर धारण करना है - तो एक सृष्टि भी बननी अनिवार्य है; जहां ये जीवात्माएं जन्म लें और

जीवित रह सकें। यह ज्ञान अखण्ड सत्ता के अखण्ड ज्ञान से वंचित कैसे रह सकता है? अत: साधकों के लिए यह समझना कठिन नहीं होना चाहिए कि 'न बदलने वाली सत्ता' को 'बदलने वाले पराजगत' और 'इन्द्रिय जगत का निर्माण'; आवश्यक क्यों हुआ और कैसे हुआ? हम साधक यह पहले ही देख चुके हैं कि

यह सृष्टि दो शक्तियों द्वारा चलती है;

करने की शक्ति और होने की शक्ति

बड़ी बड़ी क्रियाएं जैसे 'बदलने वाले पराजगत' और 'इन्द्रिय जगत का निर्माण' - मात्र होने की शक्ति द्वारा संभव है और ऐसा ही हुआ।

'करने की शक्ति' तो मात्र 'होने की शक्ति' का पूरक है।

इससे संबंधित नियमों की रचना भी प्रकृति में अनिवार्य थी, जिससे कि मायावी ज्ञान में फंसी हुई जीवात्माएं भी अपने जीवन का निर्वाह कर सकें।

अध्यात्म जगत में हमेशा से यह मान्यता रही है कि इन्द्रिय जगत में तीन गुण हमेशा पिरोये रहते हैं- जिन्हें सत्, रज और तम कहते हैं। आज के एक साधारण मनुष्य के मन में यह बात पिरो गयी है कि मात्र 'सत् गुण' हमारे जीवन के सुखों का कारण है। रज और तम ही हमारे दु:खों के कारण हैं। लेखक यह बात स्पष्ट करना चाहता है कि जितनी भी शक्तियां, या जीव, या वनस्पति जगत के प्राणी, या निर्जीव वस्तुएं; प्रकृति देती है- चाहे ये किसी भी रूप में हों, जैसे अलग अलग लोकों के ग्रह इत्यादि-सभी मात्र जीवात्मा के जीवन की मदद हेतु ही होते हैं। कहने का अर्थ यह है कि सत्, रज और तम -तीनों का योगदान जीवन के सुख में है। दु:ख तो केवल तब पैदा होता है-जब सुख देने की व्यवस्था में बाधा आती है; दूसरे शब्दों में किसी चीज से ढक जाती है। जिस प्रकार से रोशनी और अंधेरे का अलग अलग अस्तित्व नहीं होता।

मात्र रोशनी ढक जाने को अंधेरा कहते हैं।

बिल्कुल इसी प्रकार से जीवन के अलग अलग पहलुओं में, सत् का प्रभाव ढक जाने से ही; जीवन में अलग अलग अनुभव प्रतीत होने लगते हैं। दुख का अपना अस्तित्व ही नहीं है-तो उसके हटाने का सवाल ही कहां है? हमें तो मात्र प्रयासहीनता

के अभ्यास (Meditation) द्वारा सुख की शक्ति को जीवन के अलग अलग पहलुओं में ले जाना है; या यह कहें कि इस साधना द्वारा, जीवात्मा में 'सत् की शक्ति' का गठन करना है।

इस शक्ति का गठन ही; सतोगुण है।

यह हमारा अनुभव है कि जीवन में कमाना और व्यय करना; दोनों का अपना अपना स्थान है। इसमें कुछ भी गलत नहीं है। गलत; केवल यह है कि व्यय की प्रधानता-कमाने से अधिक हो जाय। इसी तरह से हम देखते हैं कि; यदि हम परा जगत में पराधन के रूप में 'सत् का गठन', साधना द्वारा करते हैं - तो इसके व्यय से संबंधित कुछ नियम प्रकृति में अवश्य होंगे। व्यय कहें; या गठित शक्ति का बिखरना कहें - यही रज है। अत: स्पष्ट है कि 'रज के गुण के बिना' तो बदलती हुई दुनियां का निर्माण ही असंभव होगा। जीवात्मा में हर बिखरी हुई चीज का विलय है और सत् का गठन है। लेकिन सत् की शक्ति तो मात्र अनन्त दिशाओं में रज के द्वारा ही बिखरेगी।

व्यय; गठन से अधिक होना ही-जीवन का दु:ख होगा।

अब जरा समाज की ओर अपना ध्यान ले जाएं तो हम देखेंगे कि पिछले कई लाख या कई हजार वर्षों में धीरे धीरे सत् के गठन में कमी आयी और गठी हुई शक्ति के बिखरने की प्रधानता हुई। साधक को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि; मात्र रज की प्रधानता, हमारे दु:ख का कारण होती है-स्वयं रज दुख का कारण कभी नहीं होता। स्वयं प्रकृति के नियमों ने भी इस बात का हमेशा ध्यान रखा है और इसीलिए ज्यों ज्यों गठित शक्ति का बिखराव होता है-रज को ढकने के लिए तम उत्पन्न हो जाता है; जिससे कि रज प्रधान न होने पाये। यही कारण है कि बिखेरने का परिश्रम मनुष्य को आराम की ओर ले जाता है-जिससे बिखेरने पर कोई रोक लगाई जा सके। इस तरह हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि 'रज और तम' का जीवन में अमूल्य योगदान है। इनसे दूर भागने या घृणा करने जैसी; कोई बात साधक के मन में कभी उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। लेकिन जब तक साधक, साधना द्वारा सूक्ष्मदर्शी नहीं होगा-तब तक मात्र लेखक को सुनकर, या कुछ किताबों में

ऐसी बातें पढ़कर अपना जीवन संवारना; असंभव होगा। इसीलिए सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण बात-मन का सूक्ष्म से सूक्ष्म दुनियां में विचरण करके; सूक्ष्मदर्शी बनना है।

अज्ञानी व्यक्ति थकावट के साथ भी अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए क्रिया को छोड़ना ठीक नहीं समझता। लेकिन प्रकृति भी उसे एक ऐसे स्थान पर पहुंचा देती है; जहां उसे क्रिया छोड़नी ही पड़ती है। हम जीवन में स्पष्ट रूप से अनुभव करते हैं कि घोर निद्रा, स्वप्न और जागृत अवस्था ही; समाज के एक साधारण मनुष्य के जीवन का अधिकार है। जो व्यक्ति; साधना में रत नहीं हैं-उनमें सोते समय सत् की शक्ति का गठन होता है। जीवन का यह सत्य; कम-से-कम एक शिक्षक के बताने के बाद, एक साधारण व्यक्ति भी अनुभव कर लेता हे। उसे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रिय सुखों की साधना के प्रयास में व्यस्त व्यक्ति के जीवन में; तम का गुण 'सत् की शक्ति' के गठन में योगदान दे रहा है। यदि प्रकृति में ऐसी व्यवस्था न होती-तो जीवात्माओं के पतन के रास्ते पर जितना दु:ख अभी देखने को मिलता है; उससे कई गुणा दु:ख देने को मिलता।

हमने देखा कि यह बदलती हुई दुनियां ब्रह्मज्ञान का विद्यालय है। जीवात्मा; शरीर धारण करके इस विद्यालय में ब्रह्मविद्या प्राप्त करके, ब्रह्म स्वरूप होने की ओर अग्रसर होने के लिए जन्म लेती है। लेकिन अज्ञानी पुरुषों का लक्ष्य तो केवल यह होता है कि; हम कैसे समाज के दूसरे व्यक्तियों की निगाह में ऊपर उठें, धनी कहलायें और यश कमायें? वे इसी को जीवन की सफलता मानते हैं। जीवात्मा के उत्थान के रास्ते पर भी, यह सब कुछ मिलता है। अन्तर केवल इतना होता है कि; जीवात्मा के उत्थान के रास्ते पर हमारे इन्द्रिय सुख के साधन के साथ साथ 'भोग की शक्ति' भी रहती है और भोग करने में जितनी शक्ति व्यय होती है; उससे ज्यादा साधना के द्वारा अर्जित हो जाती है।

इसी कारण जीवन में दु:ख नहीं आता।

लेकिन पतन के रास्ते पर कम शक्ति अर्जित होती है और शक्ति के व्यय की प्रधानता हो जाती है। इसी कारण जीवन में दु:ख बढ़ने लगते हैं। सत्, रज और

तम; बदलती हुई दुनियां के आधार हैं। मात्र सत् की शक्ति के गठन की प्रधानता; जीवन में सारे सुख प्रदान कर देती है।

ज्यों ज्यों साधक साधना की ओर मुड़ता है; रज और तम के योगदान में क्या अन्तर आता है और कैसे आता है?

साधना; साधक के 'मैं' को, करनी होती है। बुद्धि की दुनियां में क्रियाशील होने के लिए; 'मैं' का होना आवश्यक है-भले ही वह स्वयं ब्रह्म का आवतार क्यों न हो ? श्री कृष्ण; माँ यशोदा से कहते हैं कि; क्या आपने नहीं देखा कि मैंने ही गोवर्द्धन पर्वत को एक ऊँगली पर उठा लिया था ? उस समय निश्चित ही;

सर्वोच्च स्तर के व्यक्ति का 'मैं' ही क्रियाशील था।

भ० गीता में श्रीकृष्ण से अर्जुन और पाण्डवों के वार्तालाप के समय; कृष्ण का 'मैं' क्रियाशील था। इसी तरह से जब भी राम ने किसी से वार्ता की; उनका 'मैं' क्रियाशील था। इस तरह से हम आसानी से देख सकते हैं कि

हमें अपने 'मैं' की अवस्था को ही उठाना है।

हमारी चेतना जागृत हो-इसका यही अर्थ है कि हमारे 'मैं' की चेतना जागृत हो। साधना में रत साधकगण; अच्छी तरह से जानते हैं कि साधना के समय बार बार हमारा 'मैं', बुद्धि से परे हो जाता है और कुछ समय बाद फिर बुद्धि के क्षेत्र में आ जाता है। बुद्धि के क्षेत्र में वापस आने के बाद और; दुबारा बुद्धि से परे होने के पहले- यदि 'मैं' तुलनात्मक दृष्टि से कुछ सूक्ष्म स्तर को अनुभव कर रहा है-तो यह इस बात का सूचक है कि वह धीरे धीरे उच्च चेतना को प्राप्त हो रहा है। जब मन सूक्ष्मतम अनुभवों को अनुभव करेगा - तब वह विचार उद्‌गम स्थान या भावातीत के बहुत समीप होगा। वह इनके जितने समीप जाकर बुद्धि से परे होने की शक्ति अपने में जागृत कर लेगा; उतनी उच्चकोटि की चेतना हमारे 'मैं' में जागृत हो जाएगी। इस तरह से धीरे धीरे वह भावातीत चेतना (Transcendental consciousness) को महसूस करने योग्य होगा। जो बहुत दिनों तक बार बार भावातीत चेतना को अनुभव करके बुद्धि के क्षेत्र में क्रियाशील होगा-वह धीरे धीरे बुद्धि के क्षेत्र में भावातीत क्षेत्र की अखण्डता और अनन्तता को अनुभव करने

योग्य होगा। जो भी अपनी बुद्धि के क्षेत्र में अखण्डता और असीमता को महसूस करेगा-वह धीरे धीरे जीवन के किसी भी पहलू को अखण्ड और अनन्त बनाने में सफल होने लगेगा।

ऐसा कैसे होगा?

पिछले लेख में हमने देखा कि; एक साधारण मनुष्य के जीवन में मनुष्य की बुद्धि द्वारा क्रियाएं, कैसे निद्रा के समय गठित सत् को बिखेरती हैं? जब वे बिखेरने लगती हैं-तब कैसे तम, उन पर रोक लगाने के लिए उत्पन्न हो जाताहै, जिससे सत् के गठन की गति बढ़ जाये? एक साधक का जीवन ऐसे साधारण व्यक्तियों के जीवन से भिन्न है।

साधक ज्यों ज्यों जागृत अवस्था में एकान्त में अंधेरे में प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) करके आन्तरिक जगत के सूक्ष्म; और सूक्ष्म स्तरों का अनुभव करता है - त्यों त्यों उसके अन्दर ब्रह्मसुख (Bliss) की उत्पत्ति बढ़ती है।

धीरे धीरे यह ब्रह्मसुख की उत्पत्ति इन्द्रिय सुख के ऊपर हावी होने की अवस्था में आने लगती है। स्पष्ट है कि लम्बी साधना के बाद; मनुष्य के जीवन में कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रिया का समय घटेगा; लेकिन मन में अपने जीवन को संवारने की इच्छा तो रहेगी ही। दूसरे शब्दों में सूक्ष्म स्तर का रज, जीवन में क्रियाशील होगा। सूक्ष्म स्तर का रज; आन्तरिक जगत के गठित सत् को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उस क्षेत्र में बिखेरेगा-जिस क्षेत्र में इच्छाओं को पूरा होना है। जब साधक ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है-तब सूक्ष्म रज; अर्थात् भावों के स्तर पर मन की क्रियाशीलता, जब सत् को बिखेरती है-उस समय वह क्रियाशीलता, मन में पिरोया हुआ ब्रह्मसुख; सत् के बिखेरने के साथ साथ; सत् का गठन भी करती चली जाती है।

इस तरह से देखना आसान है कि उच्च स्तर की चेतना के जीवन में; सत् का बिखेरना और सत् के गठन सम्बन्धी प्राकृतिक सूक्ष्म क्रियाएं साथ साथ चलती हैं।

यही कारण है कि ऐसी अवस्था के व्यक्तियों में क्रियारत रज पर रोक लगाने की

आवश्यकता, तम को नहीं होती। मात्र ऐसे व्यक्ति अन्दर के गठित सत् को जीवन के किसी भी पहलू में; अनन्त तक बिखेरने में सफल हो जाते हैं। जो व्यक्ति आन्तरिक जगत में सत् का गठन भी अनन्त तक कर सके और जीवन के किसी भी पहलू में रज के सूक्ष्म स्तर के माध्यम से उसका बिखराव भी अनन्त तक कर सके-मात्र ऐसे व्यक्ति इन्द्रिय जगत में अखण्डता और असीमता को अनुभव करने में सफल होते हैं।

हमने ऊपर देखा कि हमें उत्थान, अपने 'मैं' का करना है।

अर्थात् हमारा 'मैं' ही साधक है, साधक ही ज्ञाता है और ज्ञाता को ही ज्ञान के क्षेत्र में जाना है। ब्रह्मज्ञान; जिसमें जीवन को किसी भी इच्छा को पूर्ण करने सम्बन्धित क्रिया का सम्पूर्ण ज्ञान है-हमारे आन्तरिक जगत के सूक्ष्म स्तर पर है। अर्थात् सूक्ष्म स्तर पर ज्ञान की तरंगें हैं। जब हमारा 'मैं' (अर्थात् ज्ञाता), ज्ञान के सम्पर्क में आता है-तब उसे जो कुछ प्राप्त होना है (अर्थात् ज्ञेय); वह प्राप्त हो जाता है।

इस तरह से हम देखते हैं कि सूक्ष्म जगत में मन के विचरण में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का संगम है।

अंग्रेजी भाषा में, इन्हीं को Knower, Knowledge and Known कहते हैं। भाषाएं हर युग में बदलती हैं। हमारे वेदों के ज्ञाता को ऋषि कहा गया है। क्योंकि

ऋषि तो केवल वह है-जो धीरे धीरे उच्च स्तर के ब्रह्म ज्ञान की ओर अग्रसर है।

ज्ञान; जो कि केवल देता है-उसके गुणों के कारण, उसे देवता कहते हैं। इन देवताओं के माध्यम से; ऋषि को जो कुछ प्राप्त होता है-उसे वैदिक भाषा में 'छन्द' कहा गया है। इस तरह से ऋषि, देवता, 'छन्द' का अलग अलग स्तर पर संगम होता है। लेकिन भावों से परे के स्तर पर; तीनों एक हो जाते हैं। यही हमने 'अद्वैत से द्वैत', शीर्षक लेख में देखा। ऊपर हमने देखा

भावातीत क्षेत्र ही वह क्षेत्र है, जहां सारे देवता, ऋषि और छन्द एक हो जाते हैं। यह क्षेत्र सर्वोच्च स्तर की चेतना का क्षेत्र होगा।

इसे चेतना का ही क्षेत्र क्यों मानते हैं? इन्द्रिय जगत अनन्त चेतनाओं का जगत है। हर मनुष्य किसी विशेष क्षण में; किसी एक विशेष चेतना में ही रहने योग्य होता है। उदाहरण के लिए मान लें कि; एक व्यक्ति किसी बच्चे को पढ़ा रहा है और पढ़ाने के बाद उसे किसी काम से बाजार जाना है। पढ़ाते समय पढ़ाने की चेतना कार्यरत रहती है। पढ़ाने के बाद यह चेतना बिना समाप्त हुए, बाजार जाने की चेतना क्रियाशील नहीं हो सकती। इस तरह के हम जितने उदाहरण चाहें-जीवन में देख सकते हैं। जीवन के ये अनुभव; हमें बताते हैं कि

हमारी हर चेतना जहां पर भी समाप्त होती होगी-

वह क्षेत्र भी एक चेतना का ही क्षेत्र होगा।

जिस प्रकार से यदि एक नदी, समुद्र में गिरती है-तो नदी और समुद्र दोनों को ही जल का सागर होना पड़ता है। इसी प्रकार से जहां एक चेतना समाप्त होगी, वहीं से दूसरी चेतना निकलती हुई भी दिखायी पड़ती है। यद्यपि वह व्यक्ति; जो परा चेतना जागृत नहीं कर पाते-अर्थात् मात्र जागृत चेतना में रहते हैं-उस क्षेत्र की अनुभूति नहीं कर पाते। यह क्षेत्र भावों का क्षेत्र है। इसी कारण हम कहते हैं कि

भावातीत क्षेत्र दो निकलती हुई चेतनाओं के अन्तराल (Gap) में सूक्ष्मतम स्तर पर है।

ध्यानस्थ अवस्था में उच्च स्तर का साधक; इस भावातीत क्षेत्र को अनुभव करने योग्य बनने के लिए ही साधना करता है। लम्बे समय की साधना के बाद वह अपने नित्य के जीवन में बार बार इस अनुभूति के बाद क्रियाशील होता है, जिससे कि भावातीत क्षेत्र (जहां समस्त ऋषि, देवताओं और छन्द का संगम है), की शक्ति को अपने जीवन की क्रियाओं के क्षेत्र में उतारने में सफल हो। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए ही; जीव शरीर धारण करता है।

यही अद्वैत चेतना की अवस्था है।

सच्चिदानन्द शीर्षक लेख में हम पहले ही देख चुके हैं कि; यह चेतना के विकास की अन्तिम अवस्था है और जागृत अवस्था से यहां तक पहुंचने के लिए चार तरह की आन्तरिक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। यह पूर्ण रूप से कार्य बन्धनों से

मुक्त अवस्था है; क्योंकि मात्र इस अवस्था में मनुष्य जीवन के किसी भी पहलू में; अनन्तता और अखण्डता को लाने में सक्षम है। इसीलिए यह मात्र उस पर निर्भर करता है कि; वह कितने दिन उसी शरीर में रहना चाहता है? इस शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करना चाहता है या हमेशा के लिए शरीर को छोड़ देना चाहता है।

जीवन की इतनी बड़ी स्वतन्त्रता को प्राप्त हो जाना ही;
मोक्ष है और यह पूर्ण ब्रह्मज्ञान की देन है। ❑

\- - - - - - - - - - - -

लौकिक अलौकिक

यदि हम अपने जीवन को ध्यान से देखें-तो हमें स्वतः ज्ञान हो जाता है कि हमारा सम्पूर्ण जीवन दो तरह के क्षणों में बंटा हुआ है। कुछ क्षण ऐसे होते हैं जब हम स्वयं अपने आपको भूल जाते हैं। स्वयं हमें यह पता नहीं रहता कि हम किन विचारों में डूबे हुए हैं; या इन क्षणों में मेरी कर्मेन्द्रियों के माध्यम से कौन सी क्रिया हो रही है?

समझने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं।

मान लें कि हमें किसी कार्यवश कहीं जाना है - हम उस ओर चलते हैं। लेकिन चलते चलते हम अपने आपको भूल जाते हैं और; यदि हमें दायीं ओर मुड़ना होता है-तो मुड़ने की बजाय हम सीधे ही चले जाते हैं। ऐसे बहुत से उदाहरण हो सकते हैं-जब हम स्वयं अपने आपको भूल जाते हैं। लेकिन ऐसे क्षण ज्यादा देर नही रहते और थोड़ी देर बाद हम अपने आप को याद आ जाते हैं। जब हम अपने आपको याद आ जाते हैं-तब हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि यदि विषय सम्बन्धी क्रिया में कोई त्रुटि हो गयी है-तो हम उसे ठीक करने का प्रयास करें।

यहां हमने प्रयास शब्द का इस्तेमाल इसलिए किया; क्योंकि जब हम अपने आपको भूल जाते हैं-उस समय किसी भी तरह का प्रयास करने की अवस्था में ही नहीं रहते; अर्थात् केवल ऐसे समय में पूर्ण आराम की सम्भावना हो सकती है।

ऊपर लेखक ने बताया कि जीवन दो तरह के क्षणों में बंटा है। यह प्रकृति का खेल है। मात्र जब मनुष्य; अपने आपको याद आता है-तब उसका खेल आरम्भ होता है और जब वह अपने आपको भूल जाता है-तब उसका खेल रुक जाता है।

प्रकृति में ऐसा क्यों होता है?

इन्द्रिय जगत में केवल प्राणी या निर्जीव वस्तुएं पायी जाती हैं। प्राणियों में वनस्पति जगत भी सम्मिलित है। यदि हम प्राणियों और निर्जीव वस्तुओं में अन्तर देखने की कोशिश करें-तो आसानी से पता लग जाएगा कि निर्जीव वस्तुओं में बदलाव की गति अत्यन्त धीमी है। लेकिन प्राणी तो मात्र वह है-जिसके बाहरी जीवन में

बदलाव बहुत तीव्र गति से होता है और इन्द्रियां भी उसे आसानी से महसूस करती हैं।

वनस्पति जगत के विषय में एक साधारण मनुष्य को भी ज्ञान है कि जब किसी उपजाऊ जमीन में बीज डाल देते हैं-तो बीज अंकुरित हो जाता है और जड़ें; जमीन-खाद-पानी और हवा से एक रस लेती हैं।

यह रस द्रव्य न होकर, एनर्जी के रूप में रहता है।

मात्र यह रस; तना, डाली, पत्तियां, कलियां, फूल और फल देने में सक्षम है। पेड़ का जीवन दो भागों में बंटा है-

1. एक भाग जमीन के ऊपर है। इस भाग में बदलाव की गति भी तीव्र है। लेकिन तीव्र बदलाव लाने वाला रस; पेड़ के बड़े सूक्ष्म स्तर पर जमीन के नीचे है और पेड़ के कण कण में है।

2. पेड़ के कण कण की यह शक्ति; जमीन के नीचे जड़ों के माध्यम से पेड़ के हर कण में पहुंचती है। जो शक्ति पेड़ को; पेड़ का हर अंग देने में सक्षम है और पेड़ के नीचे, बीज को भी अंकुरित करने में सक्षम है-वह शक्ति अलौकिक है। यह अलौकिक शक्ति ही; पेड़ के सारे लौकिक भाग का आधार है-चाहे, वह लौकिक जमीन के नीचे हो; या जमीन के ऊपर है।

वनस्पति जगत का उपरोक्त अध्ययन हमें बताता है, कि पेड़ का सम्पूर्ण जीवन तीन भागों में बंटा है। सबसे स्थूल भाग पृथ्वी के ऊपर है, उससे सूक्ष्म पृथ्वी के अन्दर है और उससे भी सूक्ष्म अलौकिक शक्ति है और; यह अलौकिक शक्ति ही पेड़ का भगवान है। बिल्कुल इसी प्रकार से मनुष्य का जीवन भी तीन भागों में बंटा है। एक वह भाग-जो इन्द्रिय जगत में सबको दिखायी पड़ता है। यदि हम स्वयं अपने शरीर को देखें; तो हमें अपने पूरे शरीर में एक नसों का जाल फैला हुआ दिखता है। एक साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी यह समझ सकता है कि; जिस प्रकार से जड़ों पर पेड़ टिका हुआ होता है-उसी प्रकार से हमारा यह शरीर इन फैली हुई नसों के जाल पर टिका हुआ है। हमारे नेत्र भी यह देखने में सक्षम हैं कि; नसों के इस जाल की बनावट पेड़ की जड़ों से मिलती

जुलती है और स्थूल शरीर से सूक्ष्म भी है।

जिस प्रकार से जड़ें; जो पूरे पेड़ का भार संभालती हैं-

वे उस क्षेत्र में नहीं रहतीं, जिस क्षेत्र में पेड़ है।

उसी प्रकार से हमारे शरीर का संचालन करने वाली नसें भी; तुलनात्मक दृष्टि से सूक्ष्म क्षेत्र में हैं। वैज्ञानिक यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि; इन लौकिक नसों के जाल से सूक्ष्म जाल भी एक और सूक्ष्म जगत् (अर्थात् अलौकिक जगत) है। सबसे सूक्ष्म जगत के जाल को ही; स्नायु संस्थान (Nervous System) द्वारा सम्बोधित किया जाता है और यह इन्द्रियों से परे है।

प्राणियों का जीवन दो हिस्सों में बंटा है।

एक शरीर और दूसरा मन।

हम अपने मन के विचरण को अपने मन में उठते हुए विचारों द्वारा अनुभव करते हैं। स्थूल जगत में हर क्रिया से सम्बन्धित विचारों को हम अनुभव करते हैं। लेकिन जब हम क्रिया से मुक्त होकर कुछ आराम हेतु बैठ या लेट जाते हैं-तब भी विचारों का आना बन्द नहीं होता। यह भी बहुत आसानी से महसूस हो जाता है कि

बाहर की सारी क्रियाओं का आधार; अलौकिक जगत के विचार हैं।

बिल्कुल ऐसे ही-जैसे लौकिक जगत के शरीर का आधार, अलौकिक जगत का स्नायु संस्थान है-या यह कहें कि जमीन के ऊपर वाले पेड़ के भाग का आधार; जमीन के अन्दर वाला भाग, जड़ें हैं। लेकिन पेड़ में हमने यह भी देखा कि इन दोनों भागों में बदलाव का आधार तो; तीसरी अलौकिक शक्ति है।

> **भावों और क्रियाओं अर्थात् दोनों महसूस होने वाले जगतों का आधार; तो कोई तीसरी शक्ति होगी और; इस शक्ति का क्षेत्र इन दोनों क्षेत्रों से ज्यादा सूक्ष्म होगा। दूसरे शब्दों में भावातीत क्षेत्र (Transcendental Field) होगा।**

ऊपर हमने देखा कि प्राणी दो क्षेत्रों के बदलाव को महसूस करता है-इन्द्रिय जगत और इन्द्रियों से परे के जगत को। इन दोनों बदलने वाले जगतों को हर

क्षण बदलने की शक्ति; सूक्ष्मतम क्षेत्र–अर्थात् भावातीत क्षेत्र देगी।

मन में प्रश्न यह उठता है कि प्राणियों के जीवन में भावातीत क्षेत्र से भावों और; क्रियाओं के क्षेत्र को शक्ति–किस प्रक्रिया द्वारा मिलती है?

> **लेखक यहां पर बताना चाहता है कि सृष्टि तीन हिस्सों में बंटी है–भावों से परे के जगत, भावों के जगत और क्रियाओं के जगत में।**

स्वयं भावों का जगत दो भगों में बंटा है–

1) एक वह जब हमारे अन्दर उठते हुए भाव बुद्धि के अन्तर्गत नहीं होते तथा ऐसा तब होता है–जब हम स्वयं अपने आपको भूल जाते हैं और

2) दूसरा वह–जब हम अपने आपको याद आ जाते हैं। ऐसे क्षणों में हमारे अन्दर उठते हुए भाव–बुद्धि के अन्तर्गत होते हैं। मात्र ऐसे क्षणों में मन; बुद्धि से जुड़कर इन्द्रियों के विषयों में विचरण करने में सक्षम हो जाता है।

ऊपर बताए हुए बदलने वाले प्रकृति के हर भाग में भावातीत क्षेत्र से भावों की शक्ति को पहुंचाने का काम स्वयं मन करता है। यह मन; उसी प्रक्रिया के माध्यम से करता है, जिस प्रक्रिया के माध्यम से मृत्युलोक के पेड़ की अलौकिक शक्ति; जमीन के नीचे और जमीन के ऊपर के पेड़ के हर कण को हर बदलाव की शक्ति, हर क्षण देती रहती है।

सत्य यह है कि भावों का क्षेत्र; या यह कहें कि इन्द्रिय से परे का जगत एक ऐसा ही लोक है–जैसे मृत्युलोक। आकाश में अनन्त तारे भी, ऐसे ही लोक हैं। **पराजगत; ब्रह्मलोक है।** अनन्त लोकों में ब्रह्मलोक वह लोक है–जिसमें भावातीत क्षेत्र की शक्ति; दूसरे शब्दों में अनुभव से परे के जगत की शक्ति, सबसे ज्यादा है और; प्राणी इसी लोक का पेड़ है। इसीलिए दोनों लोकों के प्राणियों में बदलाव की प्रक्रिया एक ही है। अन्तर केवल अलग अलग लोक के कारण है।

यह महसूस करना बहुत आसान है कि पराजगत में किसी प्रकार की कोई क्रिया करने की संभावना नहीं है। खाना अपने आप पचता है, सांस चलती है, खून दौड़ता है, शरीर में अनन्त देवतागण (Gods) क्रियात्मक हैं। दसों इन्द्रियों

की क्रियाओं से सम्बन्धित करण (मशीनें) स्वत: क्रियाशील रहती हैं; या यह कहें कि मात्र होने की शक्ति द्वारा सूक्ष्म जगत की क्रियाएं होती हैं।

यह होने की शक्ति लौकिक जगत में भी अनुभव होती है।

यदि हम लौकिक जगत में उन होने वाली क्रियाओं की ओर अपना ध्यान ले जाएं, जो सारे प्राणियों के लिए केवल सहायक हैं–तो हम आसानी से देखते हैं कि ऐसी सारी क्रियाएं, प्रकृति में चक्रिय (Cyclic) हैं–

> **जैसे प्रात: सूर्य का निकलना। धीरे धीरे उसके प्रकाश और उसकी गर्मी बढ़कर–एक चरम सीमा तक पहुंचना और फिर घटने लगना और धीरे धीरे सूर्य का अस्त हो जाना–यह एक चक्र ही है।**

इसी प्रकार से रात्रि का आना, धीरे धीरे रात की ठंडक का चरम सीमा तक पहुंचना और; फिर सूर्य के उदय के साथ उसका समाप्त होना।

रात और दिन का बार बार आना भी एक चक्र ही है।

हमारे देश में छ: ऋतुएं एक चक्र में ही आती जाती हैं। पृथ्वी का घूमना और मुख्य नौ ग्रहों का अण्डे के आकार में चक्रवत घूमना। होने की शक्ति के माध्यम से जो कुछ भी चक्रिय नहीं है–जैसे अचानक भूचाल आ जाना, या अचानक आंधी आ जाना, या नदियों में बाढ़ आ जाना इत्यादि; मनुष्य जीवन को अस्त व्यस्त कर देते हैं–लेकिन सहायक नहीं होते।

सहायक तो वे प्राकृतिक गतियां हैं–जो चक्रिय होती हैं।

प्रकृति की सबसे बड़ी शक्ति का समुद्र अनुभव से परे और भावों से परे का क्षेत्र है। यह शक्ति ही; प्रकृति में सारे बदलावों का आधार है। यह सूक्ष्मता और स्थूलता की दृष्टि से, परा जगत के सबसे ज्यादा समीप होने के कारण–परा प्रकृति को सबसे बड़ी शक्ति प्रदान करती है। परा प्रकृति; अर्थात् ब्रह्म लोक–सबसे ज्यादा शक्तिशाली होने के कारण; अपरा प्रकृति के अनन्त लोकों का आधार है। इसलिए यह आवश्यक है कि; यह अपरा प्रकृति के अनन्त लोकों से जुड़ा रहे। यह बात हम ऐसे भी कह सकते हैं कि; अनन्त लोकों के अस्तित्व का आधार–जो कि 'परा से पराजगत' में विद्यमान है–अपरा जगत के हर कण को मात्र ब्रह्मलोक

के माध्यम से मिलती है और; यह बिल्कुल वैसे ही होता है-जैसे वनस्पति जगत के हर कण को अलौकिक शक्ति; मात्र जड़ों के माध्यम से मिलती है। इसलिए ऊपर लेखक ने कहा कि; लौकिक जगत को अलौकिक शक्ति प्राणियों के जीवन में भी उसी प्रक्रिया द्वारा मिलती है-जिस प्रक्रिया द्वारा वनस्पति जगत को अलौकिक शक्ति मिलती है।

पराजगत का सबसे शक्तिशाली यन्त्र; मन है।

मन की गतिशीलता को हम; मन में उठते हुए विचारों के माध्यम से महसूस करते हैं। मनुष्य; यदि जागृत अवस्था में है-तो एक क्षण के लिए भी वह भावरहित नहीं होता। इस तरह से हम देखते हैं कि;

मन हर क्षण कार्यरत है।

मन प्रकृति की एक उत्पत्ति है।

अतः प्रकृति के नियमों के अनुसार

मन का विचरण भी चक्रिय ही होगा।

मन बुद्धि के अन्तर्गत क्रियाशील रहते रहते भावातीत हो जाता है। समस्त अनुभूतियां; मात्र भावों के माध्यम से होती हैं। हम स्वयं अपने आपको भावों के माध्यम से ही अनुभव करते हैं।

अब पाठकों को आसानी से समझ लेना चाहिए कि;

अपने आपको भूलने का विधान प्रकृति में क्यों बना है?

जब हम अपने आपको भूलते हैं-तब हम भावातीत क्षेत्र में रहते हैं और; हम अपनी क्षमता के अनुसार भावातीत क्षेत्र की शक्ति लेकर भावों के क्षेत्र में आ जाते हैं। इस तरह भावातीत क्षेत्र को शक्ति; भावों के क्षेत्र को, या यों कहें कि पराजगत को, या ब्रह्मलोक को मिल जाती है।

जब मन, भावों के क्षेत्र में प्रवेश करता है-तब वह ब्रह्मसुख में लीन रहता है। इसीलिए वह अपने आपको कुछ समय तक भूला ही रहता है।

धीरे धीरे मन की गतिशीलता, विषय जगत की ओर बढ़ती है। एक समय आता है- जब वह गतिशीलता बुद्धि से परे से, बुद्धि जगत में प्रवेश करती है। इस तरह से वह अपने आपको याद आने के बाद, विषयों के क्षेत्र को भावातीत क्षेत्र की शक्ति प्रदान करती है। इस तरह से हम इस प्रक्रिया का अवलोकन कर सकते हैं कि; कैसे अदृश्य लोक की शक्ति-ब्रह्मलोक को और; फिर क्रिया जगत को मिलती है?

क्रिया जगत में ऐसी कोई जगह नहीं-

जहां मन तत्काल नहीं पहुंच सकता।

अतः किसी ऐसे विषय की सम्भावना नहीं; जिसे मन होने की शक्ति प्रदान नहीं कर सकता।

जब हम क्रियाओं के समय अपने आपको भूलते हैं-तब क्रियाएं गड़बड़ होने लगती हैं। इसीलिए लेखक ने अपने साथ साधना करने वाले साधकों को; एकान्त और अंधेरे में बैठकर प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) करने को सिखाया-जिससे मन बार बार अपने आपको भूलकर, अपनी सारी इच्छाओं की पूर्ति हेतु, अलौकिक शक्ति अपने आपको प्रदान कर सके।

हमने ऊपर अच्छी तरह देखा कि; केवल उन क्षणों में -जब हम अपने आपको भूल जाते हैं; न बदलने वाले जगत की शक्ति, बदलने वाले जगत में बदलाव की शक्ति के रूप में प्रवेश करती है। हमने यह भी देखा कि; प्रकृति की समस्त चक्रिय गतियां जीवन की सहायक हैं। अतः मन की यह प्राकृतिक-चक्रिय-गति हमारे जीवन के लिए, हर तरह से लाभदायक साबित होगी। परन्तु, एक दिन में हमेशा ही केवल चौबीस घन्टे होंगे-

इन चौबीस घन्टे में कौन साधक मन की कितनी चक्रिय गति के माध्यम से अपने मन की अवस्था को कितना ऊपर उठा सकता है? यह अलग अलग साधक के अभ्यास की बात है।

मन भावातीत होकर भावों के क्षेत्र में प्रवेश करने के कुछ समय पश्चात्; जैसे ही बुद्धि के क्षेत्र में आता है-वैसे ही हमारे स्नायु संस्थान से जुड़कर, हमारे शरीर से

जुड़ जाता है। जिस प्रकार से मात्र पेड़ की जड़ें पेड़ को सबसे ज्यादा शक्तिशाली बनाने में सक्षम हैं-उसी प्रकार हमारा पराजगत और विशेष तौर से; पराजगत के मन की चक्रिय गति का अभ्यास-हमें अखण्ड स्वास्थ्य देने में सक्षम है। अखण्ड स्वास्थ्य का अर्थ है-समय बीतने के साथ साथ शरीर ज्यादा अच्छा काम करे। आज के बाहर के जगत में अधिकतर लोग, अपने स्वास्थ्य के लिए मन को चक्रिय गति की मदद न लेकर; मात्र औषधियों की मदद लेते हैं। इसीलिए आयु बढ़ने के साथ साथ उनका शरीर उतना अच्छा काम नहीं करता-जितना शुरू में करता था। सत्य यह है कि हमारी इच्छाओं के आधार पर चलने वाला यह सम्पूर्ण जीवन;

मात्र मन की चक्रिय गति द्वारा-

ब्रह्म की शक्ति के माध्यम से,

समस्याविहीन बनाया जा सकता है।

यही ब्रह्म उपासना है।

\- - - - - - - - - - -

अदृश्य और ब्रह्म

जब मनुष्य अपने आपको भूल जाता है-तब उसका खेल रुक जाता है।

अर्थात् ब्रह्म का खेल आरम्भ हो जाता है।

मनुष्य अपने आपको भूल जाता है- अर्थात् अपने 'मैं' को भूल जाता है। मात्र ऐसे क्षणों में 'होने की शक्ति' के माध्यम से, परा प्रकृति और अपरा प्रकृति का खेल; ब्रह्म की शक्ति के माध्यम से शुरु होता है।

ब्रह्म में सम्पूर्ण प्रकृति को सन्तुलित रखने की शक्ति है।

यही कारण है कि जब जब सन्तुलन को नष्ट करने वाली शक्तियां, ज्यादा शक्तिशाली होती हैं-तब इनका विनाश करने के लिए, ब्रह्म को किसी न किसी रूप में प्रकट होना पड़ता है।

जब सन्तुलन को नष्ट करने वाली शक्तियां कंस और रावण के रूप में प्रकट हुयीं-तब ब्रह्म को भी प्राणी का रूप धारण करना पड़ा। वे कृष्ण और राम के रूप में प्रकट हुए।

आज कलियुग में बहुत सरलता से देखा जा सकता है कि; ब्रह्मा द्वारा रचित ब्रह्माण्ड में सन्तुलन भी 'होने की शक्ति' के माध्यम से ही नष्ट होता दिखायी पड़ रहा है।

ऐसा प्रकृति की अचक्रियगतियों के माध्यम से हो रहा है।

जैसे-भूचाल का आ जाना, नदियों में बाढ़ या तीव्र वेग की वायु-अर्थात् आंधी और तूफान के माध्यम से जीवन का अस्त व्यस्त होना। ऐसे सन्तुलन को नष्ट करने वाली शक्तियों का नाश करने के लिए; विधान में प्राकृतिक चक्रियगतियों का विधान है।

समस्त चक्रियगतियों में प्राणियों के मन की चक्रीयगति;

सबसे ज्यादा सहायक हो सकती है।

इसीलिए प्रकृति में अनन्त मन उत्पन्न होने का विधान बना। मन की चक्रीय गति का रुक जाना, असम्भव है। मनुष्य का प्रयासपूर्ण जीवन; मन की चक्रीयगति में

बाधक है।

लेकिन प्रयासहीन जीवन मन की चक्रीय गति में सहायक है।

इस तरह से द्वैत जगत में दो विरोधी शक्तियों का आभास होना आसान है। ज्यों ज्यों समाज के अधिकतर मनुष्यों में यह भावना बढ़ती है कि; वे अपनी बुद्धि के माध्यम से प्रकृति को भी जीत सकते हैं-जैसा कि पिछले दिनों के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकों के मन में भावनाओं का उठना, समाज ने देखा। ऐसा प्रयासपूर्ण जीवन; मात्र मन की चक्रियगति का विरोध उत्पन्न करके, समाज में असन्तुलन बढ़ाने में ही सफल होगा - त्यों त्यों समाज में आध्यात्मिक पुरुषों का आगमन भी शुरू हुआ-जिन्होंने पूरे समाज में ध्यान का दर्शन लाने का प्रयास किया।

धीरे धीरे समाज के कुछ मनुष्यों के जीवन में प्रयासरहित जीवन की वृद्धि भी होने लगी और; सन्तुलन बनाए रखने वाली शक्ति ही ऐसा करती है।

हम देखते हैं कि भले ही यह बात समाज का औसत मनुष्य समझ न पाए; लेकिन उसके मन में यह उठता है कि; शायद अदृश्य जगत में कोई एक शक्ति है-जो हमारे द्वारा सब कुछ करा लेती है।

हम सब उस शक्ति के हाथ में कठपुतली हैं।

यह शक्ति करने की शक्ति के रूप में किसी को नहीं दिखाई पड़ती; लेकिन 'होने की शक्ति' के रूप में बहुतों को दिखती है। दिखती तो है; लेकिन इस शक्ति का ज्ञान नहीं होता। इसी कारण; वह इस शक्ति पर समर्पित नहीं हो पाता। उसके मन में बार बार यह भी आता है कि; जो कुछ होगा-वह करने से ही होगा। इस तरह से द्वैत जगत की दोनों शक्तियों में लड़ाई; न कभी खत्म हुई है और न ही कभी खत्म होगी। इस लड़ाई के समाप्त हो जाने के बाद; तो द्वैत ही नहीं रहेगा। जीवन केवल द्वैत जगत में ही होता है। जहां पर भी दो शक्तियां होती हैं - वहां पर एक शक्ति दूसरे पर हावी हो जाती है।

सम्पूर्ण प्रकृति में दो शक्तियों का स्रोत तो चक्रिय प्राकृतिक गतियां और अचक्रिय प्राकृतिक गतियां हैं। ज्ञान की बात यह है कि;

प्रकृति की समस्त चक्रिय प्राकृतिक गतियां 'मन की चक्रिय गतियों' से जुड़ी हैं।

कहने का अर्थ यह है कि, ज्यों ज्यों मनुष्य के समाज में प्रयासहीनता का आभास बढ़ेगा-मन की चक्रियगतियों में विरोध कम होगा और प्रकृति की दूसरी; प्राकृतिक गतियों को चक्रिय रहने की शक्ति मिलेगी।

इसी बात को गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को (अध्याय 3 के श्लोक 10, 11, 12) के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया कि

जब मनुष्य ब्रह्मा द्वारा रचित यज्ञ के माध्यम से देवताओं की उन्नति करेगा-तब देवतागण उसके इच्छित फल को बिना मांगे देंगे।

अलग अलग प्राकृतिक गतिशीलताओं को चक्रिय शक्ति का प्राप्त होना ही; देवताओं की उन्नति है और इसके विपरीत अवनति है। प्राकृतिक गतिशीलताओं के चक्रिय रहने में यदि बाधा कम होगी-तो समाज में; अर्थात् प्रकृति के अनन्त मनों के बीच में एक संतुलन होगा-दूसरे शब्दों में हर प्राणी खुश रहना चाहेगा और; दूसरे को भी खुश देखकर स्वयं वह भी खुश रहेगा।

आज के समाज में हम देखते हैं कि मनुष्य का मन;

हर समय अपना सुख ढूंढ़ने में लगा है।

दूसरे के सुख के बारे में सोचने के लिए; उसके पास समय ही नहीं है। ऐसा इसलिए है; क्योंकि वह अपना सुख प्रयासपूर्ण जीवन के माध्यम से ढूंढ रहा है। इसलिए अपने को भी सुखी नहीं कर पा रहा है और; यह स्वाभाविक है कि जो स्वयं दुखी है-वह दूसरे के सुख के बारे में नहीं सोच पाएगा। दूसरे के सुख के बारे में सोचने की क्षमता; केवल उनमें है-जो अपने को सुखी बनाने में सफल होने लगते हैं।

जो अनुभव से परे है-वही ब्रह्म है। वह एक है।

प्रकृति में अनेक हैं, वही ब्रह्म एक से अनेक रूप धारण करता है;

अतः ब्रह्म, अनन्त मन का रूप धारण करता है।

मन की उत्पत्ति अदृश्य जगत में होती है।
मन का घर, अदृश्य जगत है।
लेकिन स्वयं ब्रह्म, अनन्त मन के रूप में प्रकट हुआ।

ऐसा सिर्फ इसलिए हुआ–जिससे कि द्वैत जगत की स्थापना हो सके। यदि द्वैत जगत नहीं है–तो जीवन नहीं है। मन अनन्त का भाग है। इसलिए सब कुछ प्राप्त करने की इच्छा, हर मन में है। इस इच्छा की पूर्ति; मात्र उसकी क्षमता पर निर्भर करेगी। यह क्षमता मन की चक्रियगति के माध्यम से ही बढ़ेगी और अचक्रियगति के माध्यम से कम होगी। चक्रियगति के माध्यम से उसे भावातीत क्षेत्र –अर्थात् ब्रह्म की शक्ति मिलेगी। यह शक्ति; प्रकृति की समस्त चक्रिय गतिशीलताओं की शक्ति को बढ़ाएगी और; जब ऐसा होगा–तो ये प्राकृतिक चक्रिय गतियां–मनुष्य के इच्छित फल को; बिना मांगे देंगी। यही गीता कहती है

और सन्त तुलसीदास ने भी कहा है–

''जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥''

जब मनुष्य अपने आपको याद आता है–
तब उसका खेल आरम्भ होता है और
जब वह अपने आपको भूल जाता है–
तब ब्रह्म का खेल शुरू होता है।

हमारा ध्यान सन्त कबीर के कथन की ओर जाता है–

''जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि था मैं नाहिं''

द्वैत जगत में दो विरोधी शक्तियां हमेशा साथ साथ रहें–यह आवश्यक है। दो विरोधी शक्तियों का एक साथ रहना तभी सम्भव होगा–जब दोनों एक दूसरे में पिरोयी हों। प्रकृति के अन्दर, 'होने की शक्ति' और 'करने की शक्ति'–दो विरोधी शक्तियां हैं। दोनों हमेशा एक दूसरे के साथ साथ रहती हैं। यही कारण है कि; प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) समझाते हुए; स्वयं श्री कृष्ण भी अर्जुन को युद्ध के प्रयास से हटने के लिए नहीं कहते।

बिना आराम के जीवन नहीं चलता और

बिना क्रिया के भी जीवन नहीं चलता है।

अतः दोनों को साथ साथ ही रहना है। जिस व्यक्ति के जीवन में होने की शक्ति–करने की शक्ति पर हावी हो जाती है; उसके जीवन में जो कुछ भी होता है–वह उसे शुभ मान लेता है। तर्क वितर्क इसलिए नहीं करता; क्योंकि तर्क विर्तक, बुद्धि के माध्यम से होता है और; 'अनन्त' बुद्धि से परे है। तर्क वितर्क बिना किए–जीवन में जो कुछ होता है, वह किसी न किसी शुभ का संकेत है; ऐसे अनुभव की व्यवस्था, मन की उच्च अवस्था का परिचायक है। अतः पाठकगण, जो अभी उच्च अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं–तर्क वितर्क को जीवन से भूलने की भूल न करें। गीता भी इस बात का प्रमाण है कि; जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया– उस समय अर्जुन ने बहुत तर्क वितर्क किया था। उस तर्क वितर्क के सहारे ही; वह गीता का उपदेश ग्रहण करने में सफल हुआ। जिस अवस्था की बात लेखक कर रहा है–वह अवस्था समाज में समर्पण के नाम से जानी जाती है। और; गीता (18.66) के अनुसार समर्पण; ज्ञान के रास्ते की उच्च अवस्था की एक अनुभूति है। मात्र इस अवस्था की अनुभूति के पश्चात् ही; और ऊपर उठने का रास्ता बन जाता है। यदि एक अध्यात्म का प्रारम्भिक विद्यार्थी, अपनी इस अवस्था को अपने जीवन में रास्ता बनाने का प्रयत्न करेगा–तो वह सफल नहीं होगा।

ऊपर हमने देखा कि प्रयासहीनता और प्रयास की शक्तियां विरोधी होते हुए भी–सदा साथ साथ रहती हैं। यह प्रकृति का सबसे खूबसूरत दृश्य है। अब हम देखेंगे कि ये एक दूसरे में पिरोयी हुयी भी हैं। हमने ऊपर यह भी देखा कि समर्पण साधना के रास्ते पर एक उच्च अवस्था की अनुभूति है। उच्च अवस्था को प्राप्त होने के बाद–और उच्च अवसथा की ओर बढ़ने का रास्ता भी बन जाता है। लेकिन आरम्भिक साधकों के जीवन में ऐसा संभव नहीं है। यदि हम सांसारिक जीवन की ओर अपना ध्यान ले जाएं–तो भी हम देखते हैं कि; मनुष्य चाहे जो कुछ करे–मात्र अभ्यास के सहारे हर क्रिया आसान होने लगती है। दूसरे शब्दों में उस क्रिया के क्षेत्र का प्रयास कम होने लगता है। इस तरह हम देखते हैं कि;

हम प्रयास से प्रयासहीनता की ओर ही मुड़ते हैं।

ऐसा सिर्फ इसलिए; क्योंकि प्रयासहीनता; प्रयास में पिरोयी हुयी है। ज्ञान की बात यह है कि अभ्यास; बुद्धि के माध्यम से ही शुरू होता है और; बुद्धि में अनन्त की शक्ति नहीं है।

इसलिए प्रयास कम तो होता है; लेकिन कम होते होते भी प्रयास शून्य तक नहीं पहुंचता।

जो प्रयासहीनता का अभ्यास शुरू करता है; उसके जीवन में बदलती हुई परिस्थितियां-जीवन के प्रयास को कम करती हैं। यहां पर साधकगण ध्यान दें कि; ब्रह्म की शक्ति ही-सम्पूर्ण बदलने वाले जगत के समस्त बदलावों का आधार है। हमारी परिस्थितियां भी बदलती हैं और; इन परिस्थितियों के बदलने का कारण भी-मात्र मन, बुद्धि-शरीर में पिरोयी हुई ब्रह्म की शक्ति होती है। यह पिरोयी हुई ब्रह्म की शकित-मन के चक्रियगति के साथ बढ़ती है। हम पहले ही देख चुके हैं कि; इस पिरोयी हुई शक्ति के बढ़ने के माध्यम से समस्त देवताओं की उन्नति होती है। ये देवतागण बिना मांगे हमारे इच्छित फल देते हैं। यही कारण है कि; परिस्थितियों में बदलाव ऐसा होता है कि; बिना प्रयास के इच्छित फल मिले।

इस तरह से जीवन में प्रयास कम होता है और प्रयासहीनता बढ़ती है।

इस रास्ते पर प्रयासहीनता बढ़ाने वाली शक्ति; स्वयं अनन्त की शक्ति है। अत: धीरे धीरे प्रयास, शून्य की ओर बढ़ता है।

आरम्भिक साधक को हर क्रिया में कुछ प्रयास दिखायी पड़ता है। इसलिए मात्र क्रियाशील न होने में ही; वह प्रयासहीनता देखता है। लेखक यह बताना चाहेगा कि; क्रियाओं के क्षेत्र में, क्रियाओं का बन्धन-जीवन में प्रयास बढ़ाता है। बन्धन मुक्त होकर; क्रिया करने से प्रयास केवल कम होता है और; धीरे धीरे कम होता ही चला जाता है। यही कारण है कि; अध्यात्म जगत में कर्ममुक्ति की अवस्था बहुत उच्चकोटि की अवस्था मानी जाती है। जो कर्म; बन्धन मुक्त है-वह क्रिया नहीं करेगा, यह गलत है।

वह केवल कर्म के बन्धन से मुक्त है।

अत: केवल उन क्रियाओं में रहता है-जो उसके मन को सुखदायी होती हैं और;

ऐसी क्रियाएं; प्रयासपूर्ण नहीं होती।

अच्छी तरह समझाने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं।

मान लें कि एक व्यक्ति भूखा है और उसके सामने स्वादिष्ट भोजन भी है-स्वादिष्ट भोजन न करना; क्रिया न करना है। लेकिन मात्र इच्छाओं के विरुद्ध होने के कारण-ऐसा करने से केवल प्रयास बढ़ेगा। भोजन करना क्रिया तो है; लेकिन इच्छाओं के अनुरूप होने के कारण-इसमें प्रयास नहीं होगा।

इस तरह से पाठकगण को यह लेख समझने में मदद करेगा कि; प्रयासहीनता और प्रयास एक दूसरे के विरोधी होते हुए भी-एक दूसरे के साथ रहते हैं और; एक दूसरे में पिरोए हुए भी हैं। अत: किसी एक का बढ़ना; दूसरे के घटने का सूचक होगा। अच्छी तरह समझने के लिए हम; प्रकाश का उदाहरण ले सकते हैं।

मात्र प्रकाश की कमी ही; अंधेरा है।

मात्र अंधेरा की कमी ही; प्रकाश है।

अत: प्रमाणित है कि; दोनों कभी अलग नहीं होते और; एक दूसरे में पिरोये रहते हैं। यह द्वैत जगत की सारी शक्तियों का सत्य है। जब एक कम होती है-तो दूसरी बढ़ती है। जीवन में प्रयास का घटना, प्रयासहीनता का बढ़ना है। यहां पर प्रयासहीनता बढ़ने के साथ साथ; जीवन का सुख भी बढ़ता है।

जीवन का सुख और प्रयासहीनता का साथ साथ बढ़ना

आध्यात्मिक शक्ति बढ़ने का सूचक है।

दूसरे शब्दों में ब्रह्म की शक्ति का पराजगत में बढ़ने का सूचक है। हम पिछले लेख में देख चुके हैं कि; पराजगत ही ब्रह्मलोक है और; इन्द्रियजगत के अनन्त लोकों का आधार है। जब पराजगत; अर्थात् अदृश्यजगत में ब्रह्म की शक्ति पिरोती है-तो यह मात्र पराजगत को शक्तिशाली बनने के लिए नहीं होता-बल्कि ब्रह्म का यह खेल सम्पूर्ण प्रकृति को शक्तिशाली बनाने के लिए है। इस खेल में समस्त प्राणियों के मन; सबसे ज्यादा सहायक या विरोधी हो सकते हैं। मन; सहायक होंगे या विरोधी होंगे-इसी के आधार पर हमारे युग में बदलाव आएगा। ❑

\- - - - - - - - - - -

ब्रह्मा, विष्णु और महेश

बदलने वाला क्षेत्र, दो हिस्सों में बंटा है।

लौकिक क्षेत्र कुछ स्थूल है और स्थूल का आधार, हमेशा ही सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म हमेशा स्थूल से ज्यादा शक्तिशाली होता है। अत: अलौकिक और लौकिक क्षेत्रों में वही सम्बन्ध है-जो जड़ और पेड़ में है। जिस प्रकार से सम्पूर्ण वृक्ष को-अर्थात् जड़ों को और वृक्ष के जमीन के ऊपरी भाग को शक्ति; पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति, वायु और प्रकाश से मिलती है-उसी प्रकार सम्पूर्ण बदलने वाले जगत को शक्ति; न बदलने वाले जगत से प्राप्त होती है।

न बदलने वाले जगत से सम्पूर्ण बदलने वाले जगत को शक्ति, मन के माध्यम से कैसे मिलती है?

यह सृष्टि अनन्त लोकों में बंटी है। इन्द्रिय जगत के अनन्त लोक; ब्रह्मलोक अर्थात् पराजगत से जुड़े हैं। पराजगत भी अनन्त लोकों में बंटा हुआ है। पराजगत के अनन्त लोक; स्थूल जगत के अनन्त लोकों को शक्ति, मन के माध्यम से ही देते हैं।

ऐसा किस प्रक्रिया द्वारा होता है?

हमारी पौराणिक कथाएं हमें बताती हैं कि ब्रह्मलोक में तीन शक्तियां हैं। ये सृष्टि की सबसे बड़ी शक्तियां हैं। इन्हीं के माध्यम से इस सृष्टि की रचना, रचना का पालन पोषण और समय समय पर इन रचनाओं में बदलाव होते हैं। ये शक्तियां ब्रह्मा, विष्णु और महेश के नाम से जानी जाती हैं। ये सारे देवताओं के देव कहलाते हैं।

न बदलने वाला सम्पूर्ण क्षेत्र; अर्थात् भावातीत क्षेत्र (Transcendental Field) **ही ब्रह्म है और यह पराजगत के सूर्य की तरह है।** पृथ्वी लोक का सूर्य भी सूर्य लोक में है-पृथ्वी लोक में नहीं है। लेकिन वह अपना प्रकाश; मात्र पृथ्वी लोक में ही नहीं; बल्कि दूसरे सभी लोकों में फैलाने में भी सक्षम है। मात्र इसी प्रक्रिया के माध्यम से पराजगत का सूर्य-ब्रह्म; पराजगत में न होते हुए भी; पराजगत और दूसरे अनन्त लोकों में अपनी शक्ति भेजने में सक्षम है।

अत: साधकों को इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ब्रह्म, सर्वव्यापी कैसे हो सकता है?

हमारा ज्ञान, हमारे अनुभवों में है। समाज का एक साधारण मनुष्य भी इन्द्रिय जगत को अनुभव करने की शक्ति रखता है। इसीलिए उसे यह ज्ञान है कि सूर्य; सूर्यलोक में होते हुए भी, पृथ्वी लोक के हर बिन्दु में अपनी शक्ति पिरोने में सक्षम है।

अलग अलग मौसम में यह शक्ति कम ज्यादा पिरो जाती है।

यह शक्ति ज्यादा पिरो जाने की वजह से ही, ग्रीष्म ऋतु आती है। जिस स्थान में सूर्य की शक्ति (पृथ्वी, सूर्य के निकट होने के कारण) जितनी ज्यादा पिरो जाती है-उस स्थान पर रात्रि में भी गर्मी रहती है। अर्थात् रात्रि की ठण्डक भी उस गर्मी को शान्त नहीं कर पाती।

सूर्य को पिरोयी हुई गर्मी कम करने के लिए चन्द्रमा की ठंडक भी पृथ्वी के हर कण में पिरोती है।

सत्य यह है कि आकाश में अनन्त तारे गण अपनी अपनी शक्तियां पृथ्वी लोक के हर बिन्दु में पिरोते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में तो वैज्ञानिक दूसरे ग्रहों पर जाने में सक्षम हो चुके हैं। उन वैज्ञानिकों का यह अनुभव है कि; वे जिन ग्रहों पर गए-वे ग्रह भी सूर्य और दूसरें ग्रहों की शक्ति से प्रभावित हैं। जिस प्रकार से वे दूसरे ग्रहों पर जाकर ऐसा अनुभव कर सकते हैं; उसी प्रकार से

कोई भी मनुष्य जागृत अवस्था में गहरे से गहरा आराम लेने में निपुण होकर; दूसरे शब्दों में मन को सूक्ष्म से सूक्ष्म जगत में विचरण कराने में सिद्ध होकर; उस ज्ञान को प्राप्त कर सकता है-जो मात्र सूक्ष्मदर्शी व्यक्तियों को, सूक्ष्म से सूक्ष्म जगत के अनुभव के माध्यम से सम्भव है।

ऐसे व्यक्ति ही; हमारे देश में ऋषि मुनि के नाम से जाने गए। इन सूक्ष्मदर्शी व्यक्तियों ने अपने जीवन में सहस्रों बार जागृत अवस्था में भावातीत होकर;

पराजगत में और फिर इन्द्रिय जगत में मन के विचरण के माध्यम से, भावातीत क्षेत्र की शक्ति को पराजगत और इन्द्रिय जगत में अनुभव किया। आज के वैज्ञानिक दूसरे नक्षत्रों पर जाकर, जो अनुभव करते हैं–उसे उन व्यक्तियों को बताते हैं–जो वहां जाकर उसका अनुभव नहीं कर सकते।

इसी प्रकार से सूक्ष्मदर्शी ऋषिगण अपने अपने अनुभव; पुराणों और आध्यात्मिक पुस्तकों के माध्यम से उन व्यक्तियों को बताने की हमेशा कोशिश करते रहे–जिनका मन, कम से कम जागृत अवस्था में, इन्द्रियों के जगत में ही विचरण करता रहता है और; सूक्ष्म जगत में जिनका मन मात्र निद्रा के समय विरचण करता है।

निद्रा के समय मन का सूक्ष्म जगत में विचरण; किसी को अनुभव की शक्ति की कमी की वजह से, ज्ञान देने योग्य नहीं है। ऐसे व्यक्तियों को सूक्ष्म जगत के ज्ञान की मात्र सूचना प्राप्त करने के लिए अलग अलग पुस्तकों की मदद लेनी पड़ती है।

जो व्यक्ति इन सूचनाओं से प्रभावित होकर; सूक्ष्म जगत में मन को विचरण कराने का अभ्यास (Meditation) करने लगते हैं–वे उन सूचनाओं के आधार पर धीरे धीरे ज्ञान भी प्राप्त करने लगते हैं।

पिछले कुछ लेखों में हमने प्रकृति की इन्द्रिय जगत की बड़ी बड़ी शक्तियों को इन्द्रिय जगत के देवताओं के रूप में देखा और यह भी देखा कि शक्ति तो सूक्ष्म पर्तों में; स्थूल पर्तों की तुलना में ज्यादा है–अर्थात्

ज्यादा शक्तिशाली देवता तो पराजगत में ही हैं।

हमारा यह स्थूल शरीर भी सूक्ष्म कणों के माध्यम से ही बना है–जिन्हें आज के वैज्ञानिक सेल्स (Cells) कहते हैं। ये सूक्ष्मतम कण (या पौराणिक भाषा में देवता); भी अनन्त हैं और ये सब पराजगत अर्थात् बदलने वाली दुनियां में ही हैं। समस्त देवताओं को शक्ति; मन की चक्रियगति से प्राप्त होती है। जिस मन की चक्रियगति से, जितनी शक्ति देवताओं को मिलती है–मात्र उसी के आधार पर देवतागण उस विशेष व्यक्ति की इच्छाओं को बिना मांगे पूरा कर देते हैं।

मन का विचरण हमारे मस्तिष्क से जुड़ा होता है।

आज के वैज्ञानिक को भी इसका ज्ञान है। अब यह समझना कितना आसान है कि; बदलाव तो हमारे मस्तिष्क में भी आता है और; इन बदलावों का कारण केवल मन का विचरण ही होगा।

जिनका मन केवल स्थूल जगत में विचरण करेगा– उनके मस्तिष्क में बदलाव का कारण मन का स्थूल जगत में विचरण होगा। लेकिन

जिन व्यक्तियों के मन का विचरण; ज्यादा से ज्यादा समय के लिए सूक्ष्म और सूक्ष्म जगत में होगा–जहां सृष्टि की अपार शक्ति है; इस विचरण (Meditation) के आधार पर शरीर के कण कण शक्तिशाली होंगे।

इन सेल्स को नियन्त्रण में रखने वाला मस्तिष्क; ज्यादा से ज्यादा शक्तिशाली होता चला जाएगा।

साधकगण जरा सोचें कि; कौन ज्यादा शक्तिशाली है?

जीवन; मात्र अपनी अपनी इच्छाओं की पूर्ति है।

जो व्यक्ति जितनी बड़ी बड़ी इच्छाएं; जितने कम प्रयास के माध्यम से पूरी कर लेता है–वह उतना ही ज्यादा शक्तिशाली होता है।

मानव जीवन की सबसे बड़ी इच्छा; अपने को सन्तुष्ट रखना है।

जो सन्तुष्ट है–वह अशान्त नहीं हो सकता।

अपने को हर अवसथा में शान्त बनाए रखने वाला ही शक्तिशाली है।

जिस प्रकार से पृथ्वी में पानी का एक समुद्र है। इस समुद्र की गहराइयों में समुद्र की लहरें शान्त हैं।

समुद्र की लहरें तो समुद्र की गहराई के हर स्तर पर हैं। इसी प्रकार से

पराजगत; पराजगत की शक्ति का समुद्र है।

मन जितनी गहराई में विचरण करने योग्य हो जाता है–उतनी शान्त अवस्था की शक्ति के माध्यम से, अपनी बड़ी से बड़ी इच्छा को फलित करने में सक्षम हो

जाता है।

न बदलने से; बदलने वाला जगत कैसे निकला?

बदलने वाला और न बदलने वाला जगत आपस में जहां पर मिलेंगे–वहीं विचार उद्‌गम स्थान होगा। यहीं पर विचारों की उत्पत्ति होगी; अर्थात् बदलने वाले का सूक्ष्मतम तल, यही विचार उद्‌गम स्थान होगा। यहीं पर पराजगत की सर्वश्रेष्ठ शक्तियां–ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी पराजगत की तीनों शक्तियां; सूर्य के रूप में होंगी। कहने का अर्थ है कि; एक से अनेक से पहले; एक से तीन–उन शक्तियों को फैलाने वाला सूर्य होगा–जो बदलाव का आधार होगा। गीता के अध्ययन से मालूम हाता है कि

पूरी सृष्टि में तीन गुण; समस्त क्रियाओं का आधार हैं।

क्रियाएं; सूक्ष्म जगत की हों; या स्थूल जगत की–ये शक्तियां हमारी आध्यात्मिक पुस्तकों में सत्, रज और तम के नाम से जानी जाती हैं। बिना इन शक्तियों के क्रिया असम्भव होगी। पृथ्वी का एक साधारण मनुष्य भी यह मान लेगा कि; पृथ्वी पर सूर्य की जो गर्मी है–उससे लाखों गुना ज्यादा गर्मी; सूर्य लोक में होगी। हर व्यक्ति यह समझता है कि; सूर्य तक पहुंचते पहुंचते–तो हर वस्तु को भस्म हो जाना है। मात्र इसी आधार पर यह समझना कितना आसान होगा कि; ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शक्तियां, विचार उद्‌गम स्थान से, क्रियाओं के क्षेत्र में, जब प्रवेश करेंगी–तब जैसे सूर्य लोक से सूर्य की शक्ति, पृथ्वी लोक में जब प्रवेश करती है–तो सूर्य लोक से सूर्य की शक्ति बहुत कम हो जाती है। इसी प्रकार से ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शक्ति; जब स्थूल क्रियाओं के क्षेत्र में प्रकट होती है–तब क्रियाओं के क्षेत्र में इनकी शक्ति कम हो जाती है। यही कारण है कि क्रियाओं में स्थूलता बढ़ने से, मन में असंतुष्टि बढ़ने लगती है। न बदलने वाले जगत की शक्ति; पराजगत में बुद्धि के अन्तर्गत रहने वाले विचारों के क्षेत्र में और; फिर क्रियाओं के क्षेत्र में मन की चक्रियगति के माध्यम से आती है। ज्यों ज्यों यह चक्रियगति बढ़ती है–मन का चैत स्तर, विचार उद्‌गम स्थान की ओर अग्रसर होता है और; विचार उद्‌गम स्थान के ज्यादा से ज्यादा समीप रहकर मन; ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से सम्पूर्ण इन्द्रिय जगत को अनुभव करने में सक्षम होता है। ज्यों ज्यों ऐसा होता

है–मन में सत्, रज और तम की शक्ति ज्यादा शक्तिशाली होती है–अर्थात् मात्र इच्छाओं की गतिशीलता– इच्छित फल दे देती है; क्योंकि मन, ज्यादा से ज्यादा समय के लिए – विचार उद्‌गम स्थान के समीप रहता है–या यह कहें कि सत्, रज और तम के नाम से जानी जाने वाली शक्तियों के स्रोत के समीप रहता है। जब क्रिया शक्ति; बहुत शक्तिशाली होती है–तो क्रियाओं में प्रयास स्वाभाविक है कि; कम होगा।

धीरे धीरे यह प्रयास शून्य होगा।

जब यह प्रयास शून्य होगा–तब क्रियाशक्ति; होने की शक्ति में परिवर्तित हो जाएगी। होने की शक्ति क्रिया शक्ति में पिरोयी हुई है और क्रियाशक्ति होने की शक्ति में पिरोयी हुई है।

इन दोनों शक्तियों को एक दूसरे में पिरोने का कार्य–ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शक्तियां ही कर रही हैं; या यह कहें कि सत्, रज और तम की शक्ति ही कर रही है।

किस मनुश्य के मन में सत्, रज और तम; कितना शक्तिशाली या कितना दुर्बल है? मात्र इसी के आधार पर तुलनात्मक दृष्टि से अलग अलग व्यक्तियों का जीवन प्रयासपूर्ण और प्रयासरहित होने लगता है। जो व्यक्ति हर समय बुद्धि के माध्यम से जीवन में प्रयास और बढ़ाकर; जीवन को संवारना चाहता है; वह तो धीरे धीरे मायावी दलदल (Illusion) में धंसता ही जा रहा है। समाज के कुछ अज्ञानी पुरुष कठोर परिश्रम द्वारा, अपने जीवन को संवारने वाले व्यक्तियों को समाज का श्रेष्ठ व्यक्ति मानते हैं और; इसके आधार पर उस व्यक्ति का यश भी बढ़ता है। ऐसे अज्ञानी पुरुष, इस ज्ञान से वंचित हैं कि; जीवन में प्रयास, मात्र इसलिए बढ़ते हैं–क्योंकि उनके मन में सत्, रज और तम की समायी हुयी शक्तियां कमजोर हो जाती हैं। अब हम इन तीनों शक्तियों के गुणों को; स्थूल और सूक्ष्म क्षेत्र में अलग अलग देखेंगे :–

1) समाज का एक साधारण मनुष्य भी यह जानता है कि; महेश रूपी शक्ति का कार्य पुरानी तरह की व्यवस्थाओं को खत्म करना है–जिससे कि मनुष्य के जीवन

में कुछ ज्यादा अच्छी नयी व्यवस्था लायी जा सके।

2) जब पुरानी व्यवस्था खत्म होगी-तो नयी व्यवस्था बनाने का कार्य ब्रह्मा का होगा।

3) जो नयी व्यवस्था बनेगी-उसके संचालनकर्त्ता को विष्णु कहते हैं।

इन्द्रिय जगत में नयी व्यवस्था स्थापित करने के लिए क्रियाओं और प्रयासों की मदद ली जाती है। अत: ब्रह्मा क्रियाओं और प्रयासों के सूचक हुए। इस तरह से समझना आसान है कि ब्रह्मा; जो सारी सृष्टि के रचयिता हैं-उनकी शक्ति क्रियाशक्ति के रूप में प्रकट होती है और; रज के नाम से जानी जाती है। जब कोई नयी व्यवस्था प्रकृति में बन जाती है-तो अलग अलग तरह की व्यवस्थाएं अलग अलग समय के लिए होती हैं। उदाहरण के लिए पृथ्वी; किसी विशेष (Axis) एक्सिस या कील पर घूमती है-ऐसा एक युग बदलने से दूसरा युग बदलने तक चलता रहता है। मात्र युग बदलने के समय एक्सिस बदलती है।

रात और दिन का होना; अनन्तकाल तक होता है।

मात्र पूर्ण प्रलय के बाद इसका होना आवश्यक नहीं होता। लेकिन ऋतुएं कुछ महीनों के लिए ही आती हैं और बदल जाती हैं। सृष्टि के ऐसे सारे बदलाव; सम्पूर्ण सृष्टि के सन्तुलन के लिए होते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि को सन्तुलन में रखने वाली शक्ति; स्वयं ब्रह्म है।

लेकिन अलग बदलाव का रख रखाव विष्णु की शक्ति करती है और; यह सत् के माध्यम से होता है-क्योंकि ब्रह्मतत्व ही सत् है। अत: साधकों को समझ लेना चाहिए कि; सत्, रज और तम में सत् का गुण ही; विष्णु रूपी शक्ति का परिचायक है। जो कुछ भी ब्रह्मा रूपी शक्ति बनाती है और जिसका पालन पोषण विष्णु की शक्ति करती है-यह पालन पोषण एक विशेष समय के लिए होता है। अगर ऐसा नहीं होगा; तो बदलने वाले जगत का अस्तित्व खत्म हो जाएगा।

बदलने वाला जगत हमेशा रहे; इसके लिए महेश रूपी शक्ति अनिवार्य है।

इस तरह से देखना आसान है कि ये तीन शक्तियां तो बदलने वाले जीवन के आधार हैं। इन तीनों शक्तियों में से किसी एक के बिना; यह द्वैत जगत क्षण

भर भी नहीं रहेगा।

अर्थात् तीनों शक्तियों में एक सामंजस्य आवश्यक है।

ये शक्तियां एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं।

जन साधारण के मन पर यह छाप है कि; रज और तम हमारे दु:ख के कारण हैं-मात्र सत् ही; सुख देने वाला है।

सच तो यह है कि जहां जीवन है-वहां एक शरीर है और हर शरीर में एक जीवात्मा विद्यमान है। जीवात्मा; या तो उत्थान की ओर अग्रसर होगा-या पतन की ओर।

सत्, रज और तम जीवात्मा के उत्थान के रास्ते पर; मात्र जीवन को सुख देंगे और जीवन में दु:ख लाने की शक्ति, इन तीनों में से किसी में भी नहीं होगी।

जीवात्मा के पतन के रास्ते पर, इन तीनों में से किसी में भी इतनी शक्ति नहीं है कि; आयु बढ़ने के साथ साथ वह जीवन को, और सुखी बना सके। इस सत्य को अध्यात्म की पुस्तकों में इस तरह से बताया गया कि; जब सत्; रज और तम पर हावी होगा-तो रज और तम भी जीवन को सुख देंगे। लेकिन यदि रज या तम; सत् पर हावी हो गए-तो जीवन में निश्चित रूप से दु:ख बढ़ेगा। इसका अर्थ यह निकला कि; यदि जीवात्मा उत्थान के रास्ते पर है-तो सत्; निश्चय ही रज और तम पर हावी रहेगा।

ये शक्तियां क्रियाओं के क्षेत्र में कैसे काम करती हैं?

हम सभी का यह अनुभव है कि जब हम अपनी इच्छाओं की पूर्ति हेतु, बुद्धि के माध्यम से क्रिया के क्षेत्र में आते हैं-तो धीरे धीरे एक नयी शक्ति उत्पन्न होती है-जो थकावट के नाम से जानी जाती है। यह थकावट, हमारी क्रियाओं पर एक विशेष नियन्त्रण हेतु उत्पन्न होती है और; इसे तम कहते हैं। यह मात्र इसलिए उत्पन्न होती है, जिससे-रज; सत् और तम पर हावी न होने पावे। इस तरह से हम देखते हैं कि; क्रियाओं के क्षेत्र में तम का उत्पन्न होना-समाज के लिए कुछ विशेष सीमाओं में कल्याणकारी है।

थकावट के साथ साथ हमारे मन की जाग में भी कमी आती है और धीरे धीरे हम निद्रा की ओर बढ़ते हैं।

यह निद्रा तम की सूचक है। तम का अर्थ है-अंधेरा। जाग का कम होना ही मन का अंधेरा है और; मन का अंधेरा; अज्ञानता का सूचक है। लेकिन हम अपने नित्य के जीवन में देखते हैं कि; जब मनुष्य 5-6 घन्टे निद्रा की अवस्था में रहता है-तब धीरे धीरे वह निद्रा की अवस्था से स्वप्न की ओर बढ़ता है और; फिर स्वप्न से जागृत अवस्था में आता है।

थकावट के समय, मन में आन्तरिक सुख की कमी हो गयी थी।

लेकिन निद्रा के समय; वह थकावट निकल गयी और मन को एक विशेष सुख मिला-जिसे भोगने के लिए मन को इन्द्रियों की मदद नहीं लेनी पड़ रही है। इसलिए यह इन्द्रिय सुख नहीं हो सकता। अर्थात् निश्चित रूप से, यह छठा सुख है। हम इसे आन्तरिक सुख कहें; या ब्रह्मसुख कहें, या सत् का सुख कहें-जीवन का यह सत्य; इस बात का प्रमाण है कि प्रकृति में तम; अर्थात् महेश रूपी शक्ति केवल विध्वंसकारी ही नहीं है-बल्कि क्रियाओं के क्षेत्र में यह; सत् के गठन में भी मदद करती है। सत् के गठन में मदद तो करती है; लेकिन चेतना की निम्न अवस्था के कारण-इस सत् के गठन का ज्ञान, हमारे 'मैं' को देने में सक्षम नहीं है। हमने यह भी देखा कि; क्रियाओं के क्षेत्र में 'होने की शक्ति'; इतनी कम है कि क्रिया की शक्ति- 'होने की शक्ति' के पूरक के रूप में उतरना आवश्यक है। क्रियाओं के क्षेत्र में यह ब्रह्मा की शक्ति; जो मन में पिरोए हुए रज के आधार पर-मनुष्य के जीवन में प्रकट हो रही है-वह इतनी दुर्बल हो चुकी है कि; जीवन की क्रियाएं जीवन में असन्तुष्टि तो बढ़ाती हैं; लेकिन संतुष्टि देने योग्य नहीं रहीं। लेकिन क्रिया का उद्देश्य तो केवल; मन को सन्तुष्ट करना है। और यदि हम अपने मन में पिरोयी हुई रज की शक्ति को शक्तिशाली बना सकें-तो यही रज; उद्देश्य को पूरा करने में सफल हो जाएगा। यही जीवात्मा के उत्थान के रास्ते पर होता है।

सत्-रज-तम की शक्तियां; क्रियाओं के क्षेत्र और पराजगत में किस प्रकार से भिन्न भिन्न हैं?

हम सभी जानते हैं कि इन्द्रिय जगत में रज; दूसरे शब्दों में क्रिया की गति-बिना प्रयास के नहीं होती। हमारे साथ कुछ दिनों से ध्यान करने वाले साधक यह भी अच्छी तरह से अनुभव करते हैं कि; पराजगत में मन का विचरण (Meditation) ही-पराजगत में मन की गतिशीलता है। पराजगत की इस गतिशीलता को प्रयास के विपरीत; प्रयासहीनता की आवश्यकता है। पराजगत में सत् के माध्यम से मन सत्, रज और तम के स्रोत की ओर अग्रसर हो रहा है। जिस प्रकार से यदि कोई व्यक्ति सूर्य के नजदीक जाने में सफल होगा-तो उसे सूर्य का प्रकाश और गर्मी की अधिक शक्ति ही मिलेगी। बिल्कुल इसी प्रकार से जो लम्बे समय के अभ्यास (Meditation) द्वारा अपने मन को विचार उद्गम स्थान के समीप स्थायी रूप से रखकर-इन्द्रिय जगत के सुख के भोग की शक्ति पैदा कर लेगा-उसके अन्दर की रज की शक्ति मात्र 'होने की शक्ति' के माध्यम से, उसके मन में उठती हुई इच्छाओं को पूरा करेगी; भले ही वे इच्छाएं इन्द्रिय जगत की ही क्यों न हों। सूक्ष्म जगत की गतिशीलता मन की जाग कम करने की बजाय-उसे बढ़ाती है और; मन, बुद्धि और शरीर पर अलग अलग पड़े छापों को निकालने में मदद करती है-चाहे वे विचारों के स्तर की हों; या जमी हुई थकावट के कारण अलग अलग शारीरिक, बौद्धिक या मानसिक स्तर की बीमारियों के रूप में हों-या मात्र इन्द्रिय सुख के रूप में हों।

इन्द्रिय जगत में रज; मन को सत् से दूर ले जाता है।

इसलिए निम्न जाग और थकावट के रूप में, प्रकट होना पड़ता है। लेकिन साधक को याद रखना चाहिए कि; ब्रह्मा, विष्णु और महेश-एक ब्रह्म के ही तीन पुत्र हैं। इसलिए ये हमेशा एक दूसरे के सहयोगी ही होंगे।

इनका सहयोग; ब्रह्म की इच्छापूर्ति की ओर है।

ब्रह्म की इच्छा; मात्र हर प्राणी का उत्थान है। क्योंकि मात्र

जीवात्मा के उत्थान में प्राणियों का सारा सुख है।

अत: पराजगत की गतिशीलता को नियन्त्रित करने के लिए-तम उत्पन्न नहीं होता। जब साधक साधना (Meditation) शुरू करता है-तब उसकी अवस्था के

आधार पर; तम अर्थात् अज्ञान निकलते हुए विकारों के रूप में मात्र अपने आपको क्षीण बनाने के लिए उत्पन्न होता है।

साधना बढ़ने के साथ साथ यह तम रूपी शक्ति; अर्थात् जीवन की अज्ञानता जीवन से निकलती है। इसका निकलना सूक्ष्म जगत के रज को अधिक शक्तिशाली बनाता है- जिससे इस रज के माध्यम से, मन जल्दी से जल्दी ब्रह्म स्वरूप हो सके-जहां से ब्रह्मा, विष्णु और महेश (या सत्, रज और तम) की उत्पत्ति हुई। ज्यों ज्यों हमारे मन की गतिशीलता विचार उद्गम स्थान की ओर अग्रसर होती है-यह सूक्ष्म रज ही; 'होने की शक्ति' के रूप में हमारी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रकट होता है। यह सूक्ष्मदर्शी व्यक्तियों का ज्ञान है। लेकिन इसका प्रमाण मात्र जागृत अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों को ही मिल सकता है।

इन्द्रियों से परे जगत, 'होने की शक्ति' का भण्डार है।

इस क्षेत्र में अपने आप खाना पचता है, खून दौड़ता है, श्वास चलती है, क्रिया आराम की ओर अग्रसर होती है और; अन्दर के क्षेत्र के सारे क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान, अन्दर के जगत के 'होने की शक्ति' में है। एक साधारण मनुष्य को भी यह अनुभूति है कि; क्रिया के क्षेत्र में-सारी इच्छाओं को पूरी करने से सम्बन्धित कर्म-ज्ञान नहीं है। दूसरे शब्दों में विश्वकर्मा; अर्थात् विश्व के सारे कर्मों का ज्ञान नहीं है।

विश्वकर्मा की शक्ति-तो मात्र 'होने' की दुनियां में है।

समस्त क्रियाओं का ज्ञान तो मात्र; सूक्ष्म जगत की तरंगों में है।

इन तरंगों के क्षेत्र में मन का विचरण-मन को होने की शक्ति के रूप में; अपनी इच्छाओं को पूरा करने का ज्ञान प्रदान कर देता है-चाहे इच्छाएं कितनी ही बड़ी क्यों न हों?

यह सब बताकर लेखक सूक्ष्म जगत की रज की शक्ति को साधकों को महसूस कराना चाहता हैं। इन्द्रिय जगत में भी साधकों की यह अनुभूति है कि; जो कार्य जितना बड़ा होता है-बहुधा वह उतना ही ज्यादा समय भी ले लेता है। इन्द्रिय जगत के इस ज्ञान के आधार पर; वह सूक्ष्म जगत के रज की शक्ति प्राप्ति

हेतु प्रयासहीनता का अभ्यास बढ़ाता ही चला जाय-तो धीरे धीरे समय आने पर-सारी इच्छाएं पूरी होंगी। अर्थात् सारे फल मिलेंगे। फल मिलने सम्बन्धित पूर्व ज्ञान तो कवेल; त्रिकालदर्शी को होगा।

आज कल दूरदर्शन पर भी आध्यात्मिक सीरियलों का बोल बाला है। एक सीरियल 'ओ३म् नमः शिवायः' में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की तुलना करने का भी प्रयास किया गया है। महेश को; ब्रह्मा और विष्णु से श्रेष्ठ दिखाने का प्रयास किया गया है। लेखक का कहना है कि; प्रकृति की सबसे बड़ी शक्ति-ब्रह्म को तो मात्र बदलने वाले जगत की स्थापना करनी थी। इस बदलने वाले जगत में दो विरोधी तरह की वस्तुएं पायी जाती हैं-ये स्वयं प्रकृति की देन हैं।

किसी का किसी दूसरे से तुलना करना; बुद्धिमानी नहीं है।

इन सभी चीजों का मूल्य; मात्र अपने स्थान पर है और; एक विशेष स्थान पर कोई भी चीज-दूसरे से कम नहीं है। सारा संसार यह जानता है कि; जितना प्रकाश सूर्य दे सकता है-उतना, कोई दूसरी शक्ति नहीं दे सकती।

लेकिन 'दीया' की आवश्यकता वहां पर होती है-

जहां स्वयं सूर्य पहुंचने में असमर्थ है-

या यह कहें कि; जिस समय सूर्य वहां पहुंचने में असमर्थ है। इसी प्रकार से प्रकति की बड़ी बड़ी शक्तियां-जैसे सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि इत्यादि की आपस में तुलना करना अनुचित है। ये उदाहरण इन्द्रिय जगत की शक्तियों के हैं। इसी प्रकार से ब्रह्मा-विष्णु-महेश; पराजगत की तीन सबसे बड़ी शक्तियां हैं और; इन शक्तियों का उद्देश्य-बदलने वाले जगत का पालन पोषण है। इस उद्देश्य से प्रकृति में यह नियम बना कि; सृष्टि के समस्त देवतागण उन प्राणियों के इन्द्रिय जगत के प्रिय भोगों को बिना मांगे समय समय पर प्रदान करें-जो ब्रह्म द्वारा आदिकाल में रचित यज्ञ के माध्यम से, इन देवताओं की उन्नति करें।

प्रकृति का यह खेल अनन्तकाल तक निश्चित रूप से चलेगा और इसके चलने में बाधाएं, मात्र प्राणियों में अहंकार उत्पन्न करेगा। यदि प्राणियों ने यह सोचा कि; वे देवताओं की उन्नति करने में सक्षम हैं; इसका अर्थ यह निकालें कि

प्राणी देवताओं से श्रेष्ठ है। केवल तब बदलने वाले जगत के पालन पोषण में बाधाएं आयेंगी। इन बाधाओं को समाप्त करने के लिए, जिससे कि प्रकृति का संतुलन बना रहे–

अलग अलग समय में स्वयं ब्रह्म; अलग अलग रूप में प्रकट होगा।

इस तरह से यह देखना आसान है कि मात्र तुलनात्मक दृष्टि ही हमारे अहंकार को उत्पन्न करती है। अहंकार; देवताओं में हो या मनुष्यों में–यह केवल कष्टदायी ही होगा। यही हमारी समस्त पौराणिक कथाओं द्वारा दिया हुआ ज्ञान है। प्रकृति का सबसे बड़ा सत्य यह है कि; तुलना केवल मनुष्य द्वारा बनाई गयी वस्तुओं में होती है। प्रकृति द्वारा बनायी गयी शक्तियों में ऐसी तुलनाएं अर्थहीन हैं। इसका ख्याल सीरियल बनाने वालों को भी रखना चाहिए। इस लेख में भी साधकगण ने देखा कि स्थूल जगत में तम की उत्पत्ति; मात्र रज को नियन्त्रित करने के लिए और; सत् के गठन के लिए होती है। सूक्ष्म जगत में मन का विचरण; अर्थात् रज हमारे मन में सत् पिरोने के लिए है। मन की समस्त इच्छाओं की पूर्ति हेतु; विश्व के सारे कर्मों का ज्ञान 'होने की शक्ति' के माध्यम से, मनुष्य को प्रदान करने के लिए है। इसका अर्थ तो यही निकला कि

सत्–रज–तम में एक सामंजस्य है।

मात्र यह सामंजस्य ही इस प्रकृति का पालन पोषण करने में सक्षम है। इस सामंजस्य के हटते ही; दूसरे शब्दों में सत्–रज–तम में से यदि कोई भी शक्ति हट गई– तो बदलने वाला जगत ही समाप्त हो जाएगा और; ब्रह्म को सृष्टि की रचना फिर से करनी पड़ेगी। यद्यपि यह सत्य है कि; ऐसा कभी नहीं होगा। ऐसा होने के पहले स्वयं ब्रह्म; अर्थात् भावातीत क्षेत्र की सामूहिक चेतना–प्राकृतिक सन्तुलन को बनाए रखने के लिए, किसी न किसी रूप में प्रकट होगी। ऐसे ही कारणों से हमारे पुराणों में ब्रह्म के अवतार से सम्बन्धित कथाएं भी मिलती हैं।

ये अवतार अलग अलग युग में अलग अलग रूप में हुए।

ऊपर हमने ब्रह्मा–विष्णु–महेश को पराजगत के सूर्य के रूप में देखा और; इनकी शक्ति के रूप में सृष्टि के हर कण में सत्–रज–तम को देखा। ये तीनों शक्तियां

क्रिया जगत में कैसे कार्य करती हैं और; सूक्ष्म जगत अर्थात् पराजगत में कैसे क्रियाशील होती हैं–का अध्ययन किया। ये शक्तियां ही; किस प्रकार से स्थूल जगत में क्रिया शक्ति के रूप में प्रकट होती हैं और फिर; किस प्रकार से दोनों क्रिया और पराजगत में होने की शक्ति के रूप में प्रकट होती हैं–इसका भी अध्ययन किया। अब प्रश्न उठता है कि

इन शक्तियों का निवास स्थान कहां है?

ये शक्तियां चेतना शक्ति के रूप में प्रकट होती हैं –

अर्थात् तीनों शक्तियां मिलकर ही; एक शक्ति के रूप में –

दूसरे शब्दों में अनुभव शक्ति के रूप में प्रकट होती हैं।

हमारे जीवन के अनुभव हमें बताते हैं कि मात्र प्रयास के कारण ही मनुष्य में थकावट उत्पन्न होती है। इस थकावट या पिछली थकावटों की पर्तों के निकालने के कारण ही; वह निद्रा की ओर अग्रसर होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि; एक विशेष व्यक्ति की जाग; इस पर निर्भर करेगी कि उसके अन्दर थकावट की कुल कितनी पर्तें प्रवेश कर चुकी हैं?

थकावट की ये पर्तें, चाहे शारीरिक थकावट के रूप में अनुभव हों; चाहे अलग अलग बीमारियों के रूप में–या बुद्धि की चिन्ताओं और मन के डर के रूप में हों; ये सूर्य रूपी ब्रह्म की शक्ति को ढकने में उसी प्रकार सक्षम हैं– जिस प्रकार बाहर का सूर्य, बादल से ढक जाता है। इसी लेख में हम देख चुके हैं कि; थकावट का कारण प्रयासपूर्ण क्रियाएं हैं।

प्रयासपूर्ण क्रियाओं के क्षेत्र में सत्–रज–तम; कैसे कमजोर हो जाते हैं?

यह प्रमाणित हुआ कि निम्न स्तर की चेतना–अर्थात् निद्रा में स्वयं ब्रह्मा–विष्णु–महेश की शक्तियां भी क्षीण हो जाती हैं। अब समझना आसान है कि; निद्रा के समय– अर्थात् क्रिया क्षेत्र में उत्पन्न हुआ तम; जिस सत् का गठन करता है–वह सत् ही धीरे धीरे मनुष्य को निद्रा की अवस्था से स्वप्न की अवस्था में लाता है और फिर; जागृत अवस्था में भी लाता है। चेतना की इन अवस्थाओं में सत्–रज–तम की शक्तियां भी तुलनात्मक दृष्टि से ज्यादा शक्तिशाली होती हैं; क्योंकि प्रयासहीनता

(Meditation) इन शक्तियों को बढ़ाने में सक्षम है। जागृत अवस्था प्राप्त होने के बाद; यदि मनुष्य फिर से क्रियाओं के क्षेत्र में आता है–तो वह कभी भी पराजगत की जाग महसूस नहीं कर पाता–चाहे उसे जितनी बार जन्म लेना पड़े।

मनुष्य का यह अधूरापन

उसे पराजगत के सत्य का ज्ञान नहीं होने देता।

इस अज्ञानता के कारण वह; जीवन की कठिनाइयों से भी मुक्त नहीं होता–जो व्यक्ति जागृत अवस्था में आते ही एकान्त में बैठकर जागते हुए प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) आरम्भ कर देते हैं–उनकी चेतना में सत्–रज–तम से उत्पन्न अनुभव शक्ति; और शक्तिशाली होने लगती है–जिससे कि पराजगत की जाग धीरे धीरे बढ़ने लगती है। अभ्यास के साथ सत्–रज–तम की शक्तियां बढ़ती ही जाती हैं और; इनके बढ़ने के साथ साथ चेतना की अनुभव शक्ति बढ़ती ही जाती है। अब साधकों को समझना आसान होगा कि; धीरे धीरे

बढ़ती हुई चेतना अर्थात् अनुभव शक्ति में; क्रिया शक्ति 'होने की शक्ति' में परिवर्तित होगी और; यही मनुष्य में परा की शक्ति का बढ़ना है।

पूर्ण अनुभव की शक्ति; पूर्ण पराजगत को अनुभव करने में है–क्योंकि हम जानते हैं कि पराजगत से सूक्ष्म, सृष्टि में कोई बिन्दु नहीं है। इसलिए पूरी सृष्टि में कोई जगह कैसे हो सकती है–जिसका अनुभव पराजगत की पूर्ण चेतना प्राप्त करने वाले व्यक्ति को न हो? मात्र ऐसे व्यक्तियों में ब्रह्मा–विष्णु–महेश की शक्ति की चरम सीमा; उनके मन की गतिशीलता में होगी।

मात्र ऐसे व्यक्ति ही ब्रह्मस्वरूप हो सकेंगे।

– – – – – – – – – – –

शान्त चेतना

ब्रह्मा–विष्णु–महेश को पराजगत के सूर्य के रूप में देखा।

इनकी शक्तियों को सत्–रज और तम के रूप मे देखा।

इन तीनों शक्तियों का निवास स्थान, प्राणियों की चेतना है।

सृष्टि के सूक्ष्म और स्थूल पर्तों की अनुभूति का सम्बन्ध; अलग अलग चेतनाओं से है। उच्च स्तर की चेतनाएं; सृष्टि की सूक्ष्म से सूक्ष्म पर्तों को अनुभव करने में सक्षम हैं। पृथ्वी पर एक जल का समुद्र है। इसमें जल की लहरें हैं। समुद्र में तैरने वाला व्यक्ति; इस सत्य से परिचित है कि; ज्यों ज्यों वह समुद्र की गहराइयों की ओर अग्रसर होता है–वह समुद्र की शान्त लहरों को अनुभव करता है और; समुद्र की सबसे शान्त लहरें समुद्र के तल पर ही मिलती हैं।

इसी तरह से मन चेतना के समुद्र में विचरण करता है

और चेतना के समुद्र की लहरें ही;

हमें, हमारे उठते हुए भावों के रूप में महसूस होती हैं।

चेतना का सागर अन्दर है।

इस सागर में हमारा मन हमेशा ही रहता है।

जब मन क्रियाओं के क्षेत्र में रहता है–तब भी वह इस सागर में ही रहता है। क्रियाओं के क्षेत्र; अर्थात् इन्द्रिय जगत को वह ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से–चेतना सागर की किसी भी गहराई में रहकर महसूस कर सकता है। अतः यदि वह चेतना सागर की स्थूल पर्तों में रहकर ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से इन्द्रिय जगत को महसूस करेगा–तो उस समय भी वह चेतना सागर की अशान्त लहरों में रहकर–ऐसा करेगा और; यह सत्य दूसरे व्यक्तियों को अपनी इन्द्रियों के माध्यम से भी दिखाई पड़ेगा। कहने का अर्थ यह है कि;

बाहर के जगत में कोई भी व्यक्ति अपनी बुद्धि और नेत्रों की मदद से–किसी दूसरे व्यक्ति की अशान्त अवस्था को महसूस करने में सक्षम है।

साधकगण; जो इस साधना में रत हैं – उन्हें साधना, धीरे धीरे भावों की शान्त लहरों में रह कर, क्रियाओं के क्षेत्र की महसूसियत करने में निपुण बनाती हैं। धीरे धीरे मनुष्य शान्त चेतना में – अर्थात् ऐसी अवस्था में रहकर, इन्द्रिय जगत को महसूस करने लगता है–जहाँ उसके भावों की लहरें, तुलनात्मक दृष्टि से कुछ ज्यादा शान्त रहती हैं। इन शान्त लहरों के क्षेत्र में मन की गतिशीलता की शक्ति–अर्थात् इनमें पिरोयी हुयी सत्–रज–तम् की शक्ति धीरे धीरे बढ़ती चली जाती है और; मनुष्य की क्रिया शक्ति–'होने की शक्ति' में परिवर्तित होने लगती है। उसके होने की दिशा; उसकी इच्छाओं से नियंत्रित होती है। मनुष्य की इच्छाएं, उसके भूतकाल के संचित कर्मों के आधार पर–उसके संकल्पों का रूप धारण कर लेती हैं। यही 'होने की शक्ति' द्वारा हुए कर्मों को दिशा–इस प्रकार से देती है, जिससे कि सारी इच्छाएं मात्र प्रयासहीनता के आधार पर पूरी हों।

आज का एक साधारण मनुष्य, पानी के बहाव का अर्थ भली भांति समझता है–इसी तरह हवा के बहाव को भी समझता है। लेकिन चेतना के बहाव और उसकी शक्ति की ओर, आध्यात्मिक शिक्षा की कमी के कारण–उसका ध्यान नहीं जाता। सत्य यह है कि;

बड़ी शक्तियां प्रयासहीनता में पिरोयी हैं।

मात्र छोटी छोटी शक्तियां क्रियाओं में पिरोयी हैं।

इसलिए केवल छोटी छोटी इच्छाएं, क्रियाशक्ति के माध्यम से पूरी की जा सकती हैं। लेकिन

बड़ी बड़ी इच्छाएं तो मात्र प्रयासहीनता के अभ्यास (Meditation) के माध्यम से चेतना की शान्त लहरों में पिरोयी हुई होने की शक्ति के द्वारा ही; पूरी की जा सकती हैं।

क्रिया करने की शक्ति के माध्यम से हो; या 'होने की शक्ति' के माध्यम से हो–क्रिया का ज्ञान आवश्यक है। इस ज्ञान के भी दो स्तर हैं। क्रिया को जानने का स्तर, क्रिया के हो जाने का स्तर।

समझने के लिए हम स्थूल जगत के कुछ उदाहरण लेते हैं।

हम जमीन में एक बीज बोते हैं। बीज के अन्दर पूरा एक पेड़ है। बीज के अन्दर से पेड़ को निकालने की क्रिया का ज्ञान जमीन की उपजाऊ शक्ति में है। यह ज्ञान जानने के स्तर पर नहीं है। भिन्न भिन्न वृक्षों का तना कैसा होगा, डालियों का आकार क्या होगा और पत्तियां और फूल कैसे होंगे ?

कितना आसान है समझना कि बुद्धि के माध्यम से तो इसे जाना ही नहीं जा सकता

सृष्टि में दो क्षेत्र हैं – बुद्धि का क्षेत्र और बुद्धि से परे का क्षेत्र।

यह कलियुग का दुर्भाग्य है कि यहां पर हर मनुष्य अपने जीवन की बड़ी बड़ी उपलब्धियां; बुद्धि के माध्यम से पाना चाहता है। उसका विश्वास तो केवल उस ज्ञान में निहित है–जो जानने के स्तर का ज्ञान है। जानने के स्तर का सारा ज्ञान–बुद्धि के क्षेत्र का ज्ञान है। इस क्षेत्र का सम्पूर्ण ज्ञान भी, मनुष्य को पूर्ण बनाने योग्य नहीं है; दूसरे शब्दों में पूर्ण संतुष्टि देने योग्य नहीं है। ऐसे क्षेत्र के कर्मों पर विश्वास रखने वाले व्यक्ति को क्षणिक संतुष्टि तो मिल सकती है, लेकिन वह पूर्ण संतुष्टि की दिशा में मुड़ ही नहीं सकता।

बुद्धि के क्षेत्र का सम्पूर्ण ज्ञान, हमें केवल क्षणिक सन्तुष्टि दे सकता है– अर्थात् बुद्धि के समुद्र में विचरण करने वाला मन; कुछ बड़ी बड़ी उपलब्धियों के बाद भी असन्तुष्ट ही रहेगा।

पूर्ण सन्तुष्टि पाने के लिए, बुद्धि से परे के जगत में विचरण करना अनिवार्य है।

बुद्धि से परे के जगत में विचरण करने वाला मन, चेतना के असीम सागर के शान्त और अशान्त लहरों में विचरण करेगा और अभ्यास के साथ साथ उसका चेत स्तर विचार उद्गम स्थान के समीप स्थायी रूप से रहकर इन्द्रिय जगत को महसूस करने योग्य, अपने आपको बनाने में सफल होगा–वह जीवन के हर क्षण में अपने मन को शान्त चेतना की अवस्था में रखने योग्य बना देगा। परिस्थितियां कुछ भी हों; लेकिन उसकी चेतना अशान्त नहीं होती। साधकों को साधना की सही दिशा की ओर प्रेरित करने के लिए पुराणों में ऐसी शान्त चेतनाओं की; न मालूम कितनी कथाएं मिलती हैं। उदाहरण के लिए

1. श्रीराम का बनवास तो हुआ लेकिन राम की चेतना और सीता की चेतना इस बात से अशान्त नहीं हुई; कि उन्हें वन में जाना है। चौदह साल के बनवास के बाद भी, अयोध्या के एक व्यक्ति की अशान्त चेतना के कारण-सीता को वन जाना पड़ा। लेकिन इससे भी सीता अशांत नहीं हुई; क्योंकि राम और सीता का ध्येय तो अयोध्या के प्रत्येक व्यक्ति की चेतना को ज्यादा से ज्यादा शान्त करना था।

2. विश्वामित्र और वशिष्ठ गुरु के झगड़े के कारण, राजा हरिश्चन्द्र पर घोर विपत्ति आयी। मात्र यह कथा आज के किसी व्यक्ति को अशान्त कर सकती है। लेकिन स्वयं हरिश्चन्द्र और उनकी पत्नी अशान्त नहीं हुए; क्योंकि वे तो चेतना को शान्त करने की साधना की ओर ही अग्रसर हो रहे थे।

ज्यों ज्यों मन चेतना के समुद्र के सूक्ष्म स्तर में विचरण करता है, सत्-रज और तम मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाशक्ति को 'होने की शक्ति' में परिवर्तित करता है। इस 'होने की शक्ति' की दिशा उसके भूतकाल के संचित कर्मों से उत्पन्न संकल्पों से नियंत्रित होती है, लेकिन इच्छाएं बदलती हैं। बदली हुई इच्छाओं से सम्बन्धित क्रियाएं बदलती हैं। इन क्रियाओं की शक्ति; शान्त चेतना से मिलती है। यही

इस बात का प्रमाण है कि शांत चेतना में भी एक बहाव है।

भले ही मात्र पानी और हवा के बहाव को अनुभव करने वाला, स्वयं अपने विचारों के बहाव को अनुभव करने वाला - शान्त चेतना के बहाव के विषय में सोच भी ना पाए; क्योंकि वह उसे अनुभव ही नहीं हो रहा है। लेखक यह बताना चाहता है कि

चेतना सागर, हर व्यक्ति के अन्दर है और यह सागर अशान्त और शान्त चेतनाओं का ही बना हुआ है।

हमें इनकी उत्पत्ति नहीं करनी है - ये पहले से ही उपस्थित हैं। हमें तो अपनी साधना के माध्यम से मात्र इन्हें अनुभव करना है। मात्र इस शान्त चेतना की अवस्था के अनुभव में, इस सृष्टि की किसी भी इच्छा को पूर्ण करने के कर्म का ज्ञान है।

शान्त चेतना के बहाव का विज्ञान ही वेद है।

छपी हुई पुस्तकें, जो वेद के नाम से जानी जाती हैं-वे वेद नहीं हैं। शान्त चेतना में एक बहाव है-अर्थात् साम्यता का गुण है और; यही सामवेद है। यह ज्ञान जानने के स्तर पर नहीं है। इसीलिए वेद की किताबों को पढ़कर वेद जानने वाले व्यक्तियों को, वेद का ज्ञान संभव ही नहीं है।

यह ज्ञान तो मात्र शान्त चेतना के अनुभव में है।

इस चेतना को अनुभव करने वाला ही ऋषि है।

जो अनुभव हुआ; वही ज्ञान है।

उस अनुभव में ही; सारी क्रिया का ज्ञान है। यह अनुभव; मात्र आन्तरिक शान्त अवस्थाओं में है। यह ज्ञान हमको 'होने की शक्ति' के द्वारा - सब कुछ देने में समर्थ है। जो मनुष्य को सब कुछ दे सकते हैं-वही देवता हैं। इस शान्त चेतना के अनुभव में सृष्टि के समस्त देवताओं का अनुभव और उनकी आह्वान शक्ति निहित है। इन शान्त चेतनाओं की मदद से सारे देवता, एक साथ महसूस हो सकते हैं। अर्थात् वह क्षेत्र महसूस हो सकता है-जहां सारे देवी देवता इकट्ठे हैं।

यही भावातीत क्षेत्र है।

निश्चित् रूप से इस क्षेत्र का पूर्ण अनुभव, इस क्षेत्र के समीप स्थायी रूप से रहने वाला मन ही कर सकता है। साधकों को एक विशेष बात जानने की यह है कि भले ही यहां तक पहुंचने के लिए यह जन्म पर्याप्त न हो; लेकिन प्रयास के माध्यम से यहां तक अनन्त जन्मों में भी नहीं पहुंचा जा सकता। किसी का जीवन चाहे जैसा हो-वह अपने जीवन से यह ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि उसके अलग अलग प्रयास केवल उसे अलग अलग अशान्त क्षेत्र की ओर ले जाते हैं। शान्त क्षेत्र से कुछ दूर करते हैं। एक साधारण से साधारण मनुष्य-जब प्रात: निद्रा के उपरान्त, जागृत अवस्था में आता है-तो यह महसूस कर सकता है कि रात्रि में सोने के समय वह कुछ अशान्त था।

शान्त केवल इसलिए हुआ; क्योंकि रात भर वह प्रयासहीन था।

आज का साधारण मनुष्य शान्त अवस्था में, शक्ति नहीं देख पा रहा है। क्योंकि

उसके जीवन के सारे अनुभव, बुद्धि और क्रिया के क्षेत्र में सीमित हो गए हैं। हमारी आध्यात्मिक पुस्तकों में, जहां पर ऋषि और देवताओं का मिलन है–अर्थात् इस मिलन से जो मिला–उसे 'छन्द' कहा गया। ऋषि, देवता, छन्द–जहां तीनों हैं उसे 'संहिता' कहते हैं।

कुछ आध्यात्मिक शिक्षक अंग्रेजी भाषा में व्याख्यान देते हैं–वे ऋषि को जानने वाला अर्थात् Knower कहते हैं। जो कुछ जानना है–उसे ज्ञान अर्थात् Knowledge कहते हैं। जो जाना गया–उसे Known कहते हैं। अत: वे बताते हैं कि भावातीत अवस्था वह है–जहां Knower, Knowledge और Known एक हो जायं। लेखक यह बताना चाहता है कि

भावातीत क्षेत्र की सामूहिक चेतना–जो कि सूक्ष्मतम है;

इस सम्पूर्ण सृष्टि के सन्तुलन को बनाए रखने में सक्षम है। यह कार्य वह बदलने वाले जगत की सूक्ष्म चेतनाओं के माध्यम से करती है।

सूक्ष्म चेतनाएं सर्वव्यापी हैं।

सृष्टि के 'होने की शक्ति' के माध्यम से होने वाले अनन्त क्रियाकलापों को व्यक्त करना असम्भव है। फिर भी इस लेख में लेखक प्रकृति के अति महत्वपूर्ण क्रियाकलाप को सूक्ष्म चेतना की शक्ति के माध्यम से बताने का प्रयत्न करेगा–

एक महिला के गर्भ धारण सम्बन्धी क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि स्वयं उसे उसका अनुभव उस क्षण असम्भव है। गर्भ धारण करते ही एक जीवात्मा का प्रवेश गर्भ में हो जाता है। मात्र उसकी शान्त अवस्था इतनी शक्तिशाली है कि गर्भ में शरीर के सारे अंग और शरीर के अन्दर पांचों ज्ञानेन्द्रियों को क्रियाशील रखने से सम्बन्धित–यंत्र और रक्त संचार, पाचन क्रिया, श्वास प्रश्वास क्रिया से सम्बन्धित सारे यन्त्र, शरीर में बन जाते हैं और क्रियाशील हो जाते हैं। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि महादेव रूपी मस्तिष्क, अनन्त देवता रूपी कोशिकाओं से सूक्ष्मतम नाड़ियों द्वारा सम्बन्ध बना लेते हैं, जिससे कि महादेव सारे देवताओं को नियन्त्रण में रख सकें। महादेव का देवताओं पर नियन्त्रण रखने की शक्ति; अर्थात्

शिवत्व; गर्भ की शान्त चेतना में है।

लगभग नौ महीने गर्भ में रहने के पश्चात् शिशु बाहर आते ही रोता है। क्योंकि उसकी परिस्थितियों में अचानक एक बहुत बड़ा बदलाव होता है। किसी की कोई भी आयु हो–जीवन में अचानक बड़ा बदलाव ज्यादातर घातक सिद्ध होता है; क्योंकि इस बदलाव का प्रभाव मन पर बड़ा गहरा पड़ता है। जन्म की परिस्थितियों के बदलाव में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि बाहर के वायुमण्डल में ऊपर के दो सौ मील तक वायु है, जिसमें एक भार है। इस भार को जब वह पहली बार अनुभव करता है–तो रोना तो स्वाभाविक होगा। लेखक यह सब इसलिए लिख रहा है–क्योंकि

जन्म होते ही बच्चा क्यों रोता है?

यह एक आध्यात्मिक प्रश्न है और इस पर बहुत से लेखकों ने अपने अपने विचार व्यक्त किए हैं। हम यह भी देखते हैं कि जैसे ही उस बच्चे के जन्म सम्बन्धी सफाई और नहाना धोना पूरा हो जाता है – वह जल्द से जल्द बहुत शान्त हो जाता है और चौबीस घन्टे में से लगभग तेईस घन्टे शान्त अवस्था में ही रहता है।

यह तो कोई नहीं बता सकता कि; वह निद्रा की अवस्था में है

या ब्रह्मसुख में लीन है?

कारण कुछ भी हो; उसकी शान्त अवस्था सभी को, इन्द्रियों से भी महसूस होती है। जो बच्चा जन्म के बाद बाहर के जगत में इतना शान्त हो सकता है–वह निश्चय गर्भ में भी शान्त ही रहा होगा।

बच्चे की शक्ति, उसकी शान्त चेतना ही है।

यह इतनी बड़ी शक्ति है कि; बच्चे का सारा काम, 'होने की शक्ति', किसी न किसी के माध्यम से करा लेती है। वह अपना कोई काम स्वयं नहीं करता। हम सभी अच्छी तरह जानते हैं कि समय बीतने के साथ साथ पांचों ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित चेतनाएं धीरे धीरे अशान्त होने लगती हैं।

इस अशान्ति का कारण है कि; बच्चा बाहर की हर चीज को

जानने के ज्ञान के स्तर पर जानना चाहता है।

यदि उसे अग्नि मिलती है-तो उसे भी छूने का प्रयास करता है। हर वस्तु को हाथ से छूकर और मुंह में डालकर जानने का प्रयास करता है। धीरे धीरे बच्चा बड़ा होता है। सत्युग में उसकी शिक्षा लगभग सात आठ वर्ष के बाद आरम्भ होती थी। लेकिन ज्यों ज्यों सत्युग; कलियुग की ओर अग्रसर हुआ - हम देखते हैं कि आजकल पच्चीस माह की आयु वाला शिशु किसी विद्यालय में जाने लगता है।

सत्युग की शिक्षा की परम्परा बालक को अपनी शान्त अवस्था में रहना सिखाती थी-जिससे कि चेतना की शान्त अवस्था के आधार पर उसे जीवन में सब कुछ मिल सके।

लगभग पच्चीस वर्ष की उम्र तक वह बच्चा अपनी चेतना को शान्त करने में व्यस्त रहता था। जिससे उसकी चेतना अशान्त होने ही नहीं पाती थी। लगभग पच्चीस वर्ष की आयु तक, इस विद्या में निपुण होकर गीता (2.48) द्वारा दर्शाए दर्शन **'योगस्थ कुरु कर्माणि'**, के आधार पर वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। यह गृहस्थ आश्रम भी उसकी एक आध्यात्मिक शिक्षा थी-जिसमें वह केवल यह सीखता था कि यदि क्रियाएं उसे अशान्त करती हैं-तो उस अशान्त चेतना से वह कितनी जल्दी शान्त हो सकता है?

यदि हम उसके जन्म की ओर अपना ध्यान ले जायें?

उसके जन्म की यह घटना कि; वह पैदा होते ही रोता है और; फिर घन्टों के लिए एकदम शान्त हो जाता है-स्मरण हो जाती। यदि शारीरिक कष्ट की वजह से कुछ अशान्त भी हुआ-तो जल्द से जल्द शान्त हो जाता है।

क्योंकि शान्त होने की ताकत, वह जन्म से ही अपने अन्दर पिरो कर ही लाया है।

गृहस्थ आश्रम के पच्चीस वर्ष में वह इतना शान्त होने लगा कि; क्रियाशक्ति 'होने की शक्ति' में परिवर्तित हो गई-जो कि उसके पास गर्भ की अवस्था में थी। पचास वर्ष की आयु में जब मनुष्य वानप्रस्थ की अवस्था में आता था-तो केवल 'होने की शक्ति' के माध्यम से जीवन के सारे क्रिया कलापों को पूर्ण करने की सिद्धि प्राप्त करता था। और जो भी मनुष्य इस सिद्धि को प्राप्त कर लेगा-उसके

बाहर के क्षेत्र में किसी चीज की कमी नहीं होगी। जिसके बाहर के जीवन में, किसी भी वस्तु की कमी नहीं होगी-उसके अन्दर कुछ पाने की इच्छा कैसे हो सकती है?

जो जीवन में सब कुछ पा चुका है-उसके जीवन में कुछ पाने की इच्छा का कुछ अर्थ ही नहीं होता-यही संन्यास है।

ऊपर हमने देखा कि सत्युग की आध्यात्मिक शिक्षा के आधार पर, मनुष्य जिस शक्ति के साथ पैदा होता था-उस शक्ति को बनाए रखने में सक्षम होने लगा। लेकिन आज कलियुग में एक लाख में ९९९९९ पिता, अपने बच्चों को बुद्धि और इन्द्रिय जगत के प्रयासों के माध्यम से उसकी चेतना को धीरे धीरे; और अशान्त करने का प्रयास कर रहे हैं। लेखक यह मानता है कि

इसका कारण; मात्र जनसमूह की अज्ञानता है।

ज्यों ज्यों चेतना की अशान्ति बढ़ती है-जीवन तरह तरह की समस्याओं से भर जाता है। यदि किसी विशेष व्यक्ति को ब्रह्म की कोई विशेष योजना के आधार पर, शान्त चेतना में शक्ति दिखने लगी और; अपनी शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से वह चेतना को शान्त करने के अभ्यास की ओर अग्रसर हुआ-तो निश्चित रूप से जिस दिन से वह इस रास्ते पर चलेगा-उम्र बढ़ने के साथ साथ शरीर के रोगों से मुक्ति-मात्र बीमारियों के माध्यम से, चिन्ताओं के माध्यम से - चिन्ताओं से मुक्ति और मन में समाए हुए डर उतार करके डर से मुक्ति की ओर अग्रसर होने लगेगा।

अन्दर बाहर-हर तरफ अनन्त का अनुभव तो केवल लाखों में किसी एक व्यक्ति में ही मिलेगा, ऐसा स्वयं कृष्ण भगवान ने गीता में भी कहा है।

\- - - - - - - - - - -

मानव तन

समाज में सभी की यह अनुभूति है कि; जीव विभिन्न शरीरों के साथ जन्म लेता है।

लेकिन विशेष कर मानव शरीर के लिए सन्त तुलसीदास ने कहा है-

'बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थहि गावा।'

उन्होंने यह भी कहा है-

'नर तनु सम नहिं कवनिउ देही।

जीव चराचर जाचत जेही॥'

आज के समाज में मनुष्य का जीवन दुखों से भरा है।

सन्त तुलसीदास द्वारा कहे हुए उपरोक्त सत्य के बावजूद-

मनुष्य के जीवन में दुख क्यों आता है?

हर जीवन को सुखी बनाने के लिए शक्ति की आवश्यकता होगी और

सारे साधकगण इस सत्य से परिचित हैं कि;

जीवन में दो प्रकार की शक्तियां विद्यमान हैं।

क्रिया की शक्ति और होने की शक्ति।

क्रिया की शक्ति का सम्बन्ध, बुद्धि के विकास और शारीरिक शक्ति से है। जिससे कि व्यक्ति नाना प्रकार के परिश्रमों द्वारा अपने जीवन को सुखी बनाने का प्रयास करता है। लेकिन लेखक पिछले लेखों में समझ चुका है कि

प्रयासहीनता के अभ्यास (Meditation) द्वारा, कम से कम समय में गहरे से गहरा आराम लेकर, मन में ज्यादा से ज्यादा ब्रह्मतत्व को पिरोकर, आत्मोत्थान किया जा सकता है।

इस रास्ते पर अग्रसर होने से धीरे धीरे मनुष्य की इच्छाएं; 'होने की शक्ति' के माध्यम से पूरी हो सकती हैं। जब 'होने की शक्ति' के माध्यम से जन जीवन की इच्छाएं पूरी होती हैं-तब जीवन में परिश्रम कम होता है और मनुष्य थकावट की समस्याओं से दूर होने लगता है।

वैदिक शिक्षा; जिसमें वेद का ज्ञान निहित है।

वेद के ज्ञान के आधार पर, विश्व के समस्त कर्मों का ज्ञान; 'होने की शक्ति' के स्तर पर-मन में उतर कर, हमारे मन की इच्छाएं पूर्ण कर देता है। यह रास्ता प्राचीनकाल में देवी-देवताओं द्वारा अपने जीवन को सुखी बनाने का रास्ता बताया गया। गीता के (अध्याय 3, श्लोक 10) में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा-

सहयज्ञा: प्रजा: सृषृवापुरोवाच प्रजापति:।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक॥

उपरोक्त श्लोक कहता है कि; सृष्टि की रचना के आरम्भ में ही एक यज्ञ की रचना भी हुई और; इस यज्ञ द्वारा मनुष्य वृद्धि को प्राप्त हो सकता है- तब यह यज्ञ ही मनुष्य की इच्छित कामनाओं को पूर्ण करेगा। यह यज्ञ ब्रह्मा द्वारा आदिकाल में रचित है। अत: इस यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए-किसी भी वस्तु की आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठता। संसार में जितने भी यज्ञ मनुष्य की क्रियाओं द्वारा किए गए-उन सभी यज्ञों में इन्द्रिय जगत की वस्तुओं का भी प्रयोग होता है। यह इस बात को दर्शाता है कि ब्रह्मा द्वारा बताया हुआ उपरोक्त यज्ञ, प्रयासपूर्ण कर्मों द्वारा किया हुआ यज्ञ नहीं हो सकता।

अत: यह वही यज्ञ है, जिसे लेखक ने प्रयासहीनता के माध्यम से ध्यान योग कहकर साधकों को समझाया है।

जब तक साधक इस यज्ञ में रत रहता है-तब तक उसका मन क्रिया के करने के क्षेत्र में नहीं रहता। वह केवल होने के क्षेत्र में रहता है। होने के क्षेत्र में-अर्थात् मन; बुद्धि से परे के क्षेत्र में रहता है। यदि हम अपने जीवन की ओर ध्यान ले जांय-तो हमें जो कुछ बिना प्रयास के मिल जाता है-मात्र उन्हीं प्राप्तियों को हम देवी-देवताओं या ईश्वर की देन मानते हैं। जो कुछ हम अपनी बुद्धि के माध्यम से परिश्रम द्वारा प्राप्त करते हैं-उसे समाज भी अपने परिश्रम की देन कहता है।

गीता के (अध्याय 3 के श्लोक 11) में भी ऐसा ही दर्शाया गया है :-

देवान्भावतानेन ते देवा भावयन्तु व:।

परस्परं भावयन्त: श्रय: परमवाप्स्यथ॥

यज्ञ; मात्र देवताओं की उन्नति करने का रास्ता है।

मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्म तो देवताओं की उन्नति करना है।

मात्र इस शिक्षा की कमी में और इस कर्तव्य कर्म के लुप्त हो जाने के कारण- धीरे धीरे मानव जीवन प्रयासपूर्ण होता चला गया। आज के समाज में किसी के लिए यह विश्वास करना कठिन हो रहा है कि

मनुष्य का जीवन प्राप्त करना बड़े भाग्य की बात है।

सत्य यह है कि सृष्टि के समस्त कर्मों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-प्रयासपूर्ण कर्म और प्रयासहीन कर्म।

प्रयासपूर्ण कर्म ही सकाम कर्म हैं और

प्रयासहीन कर्म ही निष्काम कर्म हैं।

मात्र निष्काम कर्मों के माध्यम से गीता के उपरोक्त श्लोकों की सत्यता अनुभव के क्षेत्र में लाई जा सकती है। सत्युग में वैदिक शिक्षा के माध्यम से समाज का हर व्यक्ति - इस सत्य को महसूस करने में सक्षम था।

मात्र मानव तन के द्वारा जीव सारे देवताओं की उन्नति करने योग्य है और; जीवन की हर इच्छा को बिना प्रयास या थकावट के पूरी कर सकता है।

यदि हम अपना ध्यान इन्द्रिय जगत के देवताओं-अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रगण, राशियों, वायु, अग्नि, पृथ्वी इत्यादि की ओर ले जायें-तो हम यह देखते हैं कि ये सारे देवता अनन्तकाल से कुछ विशेष कर्मों में ही रत हैं, अर्थात् अपने अपने कर्मों को बदलने की शक्ति उनमें नहीं है। दूसरे शब्दों में भिन्न भिन्न भोग की शक्ति इन्हें प्रदान नहीं है। इनके सारे कर्म तो उन मनुष्यों के जीवन को सुखमय बनाने के लिए होते हैं-जो देवताओं की उन्नति से सम्बन्धित कर्मों में व्यस्त हैं। इसीलिए सन्त तुलसीदास ने अपनी चौपाई में बताया कि; मानव तन तो सारे देवताओं को भी दुर्लभ है-ऐसा हमारे ग्रन्थ बताते हैं।

गीता के (3.12) में स्वयं कृष्ण भगवान अर्जुन को बताते हैं-

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

अर्थात् यज्ञ द्वारा बढ़ाए हुए देवता लोग, तुम्हारे प्रिय भोगों को बिना मांगे ही देंगे। जो व्यक्ति बिना देवताओं की उन्नति के लिए कर्म किए, सुख भोगने की अभिलाषा रखता है-वह चोर है।

यह विज्ञान का युग है। इस युग में मात्र उन्हीं चीजों को सत्य माना जाता है-जिनके वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध हों। बिना वैज्ञानिक प्रमाणों के लोग ग्रन्थों में लिखी हुई बातों पर विश्वास नहीं करते। सत्य तो यह है कि विश्वास करने और न करने का फल, मात्र इतना है कि केवल विश्वास करने वाले के मन में वैदिक ज्ञान प्राप्ति का रास्ता ढूंढ़ने की अभिलाषा जागृत होती है; दूसरे व्यक्तियों में यह अभिलाषा भी जागृत नहीं होती। जिनमें यह अभिलाषा जागृत हो जाती है-उन्हें साधना करके गीता के उपरोक्त श्लोकों को अपने जीवन के व्यवहार में लाने में सफल होना पड़ता है-तभी वे सन्त तुलसीदास द्वारा ऊपर बताए हुए सत्य को भी अनुभव करते हैं। लेखक यह बताना चाहता है कि; हम ऊपर के सत्य - 'बड़े भाग्य से मनुष्य का तन मिलता है'-वैज्ञानिक उपलब्धियों द्वारा भी प्रमाणित कर सकते हैं। विज्ञान बताता है कि इन्द्रिय जगत की हर वस्तु सूक्ष्म और स्थूल पर्तों में विभाजित की जा सकती है। ये पर्तें जितनी सूक्ष्म होंगी-उतनी ही बड़ी शक्ति का अनुभव संभव होगा।

इसी आधार पर अणु और परमाणु बम बने।

सृष्टि की हर चीज कणों के माध्यम से ही बनती है।

हमारा शरीर भी छोटे छोटे कणों से ही बना है।

वैज्ञानिक इन कणों को कोशिकाएं (Cells) के नाम से पुकारते हैं।

ये कोशिकाएं अनन्त हैं और, ये अनन्त कोशिकाएं अनन्त शक्तिशाली देवतागण हैं। इस तरह से हम देखते हैं कि हर शरीर देवताओं के माध्यम से उसी प्रकार से गठित होता है-जिस प्रकार से पृथ्वी पर मकान सीमेन्ट, बालू और ईंटों की मदद से बनता है। हमारी अनुभूतियां हमें यह भी बताती हैं कि; सृष्टि में एक बिन्दु भी ऐसा

नहीं है-जहां तत्काल पहुंचने में हमारा मन सक्षम नहीं है। मन; हर बिन्दु तक विचारों के माध्यम से ही पहुंचता है और हर बिन्दु की अनुभूति उसके लिए सम्भव है। यह प्रमाणित करता है कि

मन को तो उस साधना की आवश्यकता है-जो सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव के माध्यम से सूक्ष्मतम कोशिकाओं के क्षेत्र में विचरण करके इन कोशिकाओं की शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर सके।

हम सभी की यह अनुभूति है कि प्रयासहीनता के समय मन; स्वत: बुद्धि से परेजगत में चला जाता है। इसकी अनुभूति उस समय होती है-जब मन बुद्धि से परे विचारों में विचरण करके, अपनी जागृति में वापस आता है। मन का ऐसा विचरण-घोर निद्रा, स्वप्न और जागृत अवस्था-तीनों अवस्थाओं में सम्भव है। परन्तु इतने सूक्ष्म विचरण के सुख की अनुभूति, मात्र जागृत अवस्था में ही सम्भव है।

इस सूक्ष्म क्षेत्र के सुख में ही; सूक्ष्म क्षेत्र के देवताओं की शक्ति पिरोई हुई है। अत: मात्र इस सूक्ष्म क्षेत्र में नित्य कुछ समय के लिए विचरण करने वाला मन ही; इस सूक्ष्म क्षेत्र के देवताओं की शक्ति का भागीदार होता है।

लेखक के साथ ध्यान के अभ्यास में रत साधक यह भी जानते हैं कि प्रकृति के सारे अस्तित्व चक्रिय गति में रहते हैं। उन्हें मन की चक्रियगति का भी ज्ञान है कि

मन बुद्धि के अन्तर्गत विचारों के क्षेत्र से सूक्ष्म दिशा की ओर
जब अग्रसर होता है-तो सबसे पहले भावातीत होता है।
और भावातीत क्षेत्र में ब्रह्मतत्व के समुद्र में गोता लगाकर
कुछ समय के लिए परासुख अर्थात् बुद्धि से परे
विचारों में खोया रहता है।

शरीर पानी से नहाता है - इसी प्रकार मन, मात्र ब्रह्मतत्व से स्नान करता है। जो व्यक्ति पानी से स्नान करता है-उसके शरीर के अन्दर जल की कुछ बूंदे अवश्य

पिरोती हैं और; कुछ उसके शरीर पर रहती हैं। जो शरीर पर रहती हैं-वे बूंदे वायु मण्डल को मिलती हैं। इसी प्रकार से

जब मन ब्रह्मतत्व के समुद्र में गोता लगाता है-तो कुछ ब्रह्मतत्व मन में पिरो जाता है और यह पिरोया हुआ ब्रह्मतत्व-मन को अमूल्य जाग, ब्रह्मसुख और सत्-अर्थात् सारे अस्तित्वों की शक्ति प्रदान करता है।

इन शक्तियों को अपने अन्दर पिरोकर मन कुछ समय के लिए पराजगत में लीन रहता है। यही जीवन के वे क्षण हैं-जिनमें मानव तन में रहने वाले जीव द्वारा देवताओं की उन्नति के कर्म स्वत: होते हैं।

प्रश्न उठता है, देवताओं की उन्नति कैसे होती है?

ऊपर बताए हुए इन्द्रिय जगत के देवता हर प्राणी को हर क्षण, कुछ अमूल्य निधि देते रहते हैं; लेकिन वे इस अमूल्य निधि को मनुष्यों को देने की शक्ति, मात्र ब्रह्मतत्व से लेते हैं। जब मन, ब्रह्मतत्व के समुद्र में नहाकर पराक्षेत्र में लीन रहता है-उस समय ब्रह्मतत्व के वे कण-जो मन में पिरोते नहीं हैं, (बल्कि मन में रहते हैं), इन देवताओं को प्राप्त होते हैं। प्रकृति के आदान प्रदान के नियम के आधार पर देवतागण, जिस मनुष्य द्वारा जितना ब्रह्मतत्व लेते हैं-उतना ही उसको जीवन के सुख के भोगों के रूप में प्रदान करते हैं। इसी आधार पर रामायण में यह भी कहा गया है कि; ऐसे कर्तव्य कर्म में रत व्यक्ति को सूर्य भी आवश्यकता के अनुसार ही ताप देता है-

'महि रहि पूरि मयुखन्हि, रवि तप जेत तेहि काज।
मांगे वारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज॥'

यद्यपि इस पृथ्वी की आयु बहुत लम्बी हो चुकी है, लेकिन आज के समाज के वृद्ध लोगों को भी इसका अनुभव है कि सूर्य के ताप से बचने के अलग अलग वैज्ञानिक ढंग सनातन नहीं हैं। यही सत्य रामचरितमानस के ऊपर के सत्य को प्रमाणित करते हैं।

मानव तन के सूक्ष्म पर्तों की बनावट (Physiology) **के अध्ययन में व्यस्त वैज्ञानिक अच्छी तरह जानते हैं कि शरीर की अनन्त कोशिकाएं, अत्यन्त सूक्ष्म नसों द्वारा हमारे मस्तिष्क से जुड़ी हैं।** इन सूक्ष्म नसों की शक्तियों के माध्यम से मस्तिष्क, शरीर की अनन्त कोशिकाओं को अपने नियन्त्रण में रखता है। यदि कोशिकाएं देव हैं-तो उनको अपने नियन्त्रण में रखने वाला ही; महादेव है। ये शरीर के इतने सूक्ष्म भाग हैं कि मन; इनके क्षेत्र को बुद्धि में उठने वाले विचारों के माध्यम से अनुभव नहीं कर सकता। यदि हम अपना ध्यान वर्तमान समाज के व्यक्तियों की ओर ले जांय-तो हमें ज्ञान हो जाता है कि हर व्यक्ति को 6 या 7 घण्टे की निद्रा की आवश्यकता होती है। बच्चों की निद्रा सबसे गहरी होती है, लेकिन उम्र बढ़ने के साथ साथ व्यक्ति गहरी निद्रा की सामर्थ्य भी खो रहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निद्रा के समय भी; केवल कम आयु के बालकों का मन इन कोशिकाओं के समीप पहुंच पाता है। आयु बढ़ने के साथ साथ निद्रा में इन कोशिकाओं से दूर होता जाता है।

सबसे ज्यादा समीप तो नवजात शिशु ही रहता है। इसीलिए उस क्षेत्र की शक्ति, 'होने की शक्ति' के रूप में जितनी नवजात शिशु के पास होती है, किसी और के पास देखी नहीं जाती। आज के समाज की शिक्षा का गठन ऐसा है कि आयु बढ़ने के साथ हर बालक की 'होने की शक्ति' घटती हुई दिखाई देती है और 'करने की शक्ति' बढ़ती हुई दिखाई देती है। यही इसका प्रमाण है कि धीरे धीरे इन बालकों का मन, कोशिकाओं के समीप रहने की क्षमता खोता जाता है।

शास्त्र में जीवन का एक सत्य सभी ने सुना या पढ़ा है,

भले ही अनुभव न किया हो और; वह सत्य यह है कि ईश्वरीय शक्ति मात्र समर्पण की अवस्था में उभरती है। हम यह भी अनुभव करते हैं कि हमारी निद्रा, जितनी गहरी होती है-उतनी ही बड़ी समर्पण की अवस्था रहती है। हम निद्रा की अवस्था में लगभग छः घण्टों के लिए रहते हैं; लेकिन जागृत अवस्था अठारह घण्टों की होती है। यह समझना कितना आसान है कि; जब तक मनुष्य इन अठारह घण्टों में ज्यादा से ज्यादा समय के लिए समर्पण की अवस्था में रहने की शक्ति नहीं प्राप्त

करेगा-तब तक वह देवताओं की उन्नति सम्बन्धी कर्मों में व्यस्त रहने की शक्ति खोता ही जाएगा।

प्रयासहीनता के अभ्यास द्वारा हम इसे खोने के बजाय बढ़ा सकते हैं।

जागते हुए एकान्त और अंधेरे में प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) मनुष्य के अन्दर सूक्ष्म से सूक्ष्म क्षेत्र की शक्ति उभारने में सक्षम है। जो इस शक्ति को उभारने में सफल होता है-वही देवताओं की उन्नति करने में भी सफल होगा। समर्पण जितना गहरा होता है-मन, शरीर के उतनी ही सूक्ष्म पर्तों में रहता है। साधक यह भी जानते हैं कि; मन हर समय गतिशील है और मात्र

मन की गतिशीलता ही कर्म है।

मन के कर्म अलग अलग सूक्ष्म क्षेत्रों में अलग अलग शक्तियां रखते हैं। इन कर्मों की शक्ति हमारे सूक्ष्म जगत की नसों की उन्नति करने में सक्षम है और इन सूक्ष्म पर्तों का विकास करने में सक्षम है। इन सूक्ष्म पर्तों के विकास के द्वारा मस्तिष्क का भी विकास होगा। इसका रूप भी बदलेगा और धीरे धीरे मन्दिरों में स्थापित महादेव का रूप धारण करेगा। इस तरह से लेखक इस लेख द्वारा बताना चाहता है कि; जागृत अवस्था में इतने सूक्ष्म क्षेत्र में विचरण के अनुभव की शक्ति, मात्र मानव तन के साथ एक जीव के लिए सम्भव है, क्योंकि मानव तन की जो फीजियोलोजी (बनावट संरचना) है-वह संसार के किसी दूसरे तन में नहीं है।

वर्तमान जीवन में एक उच्च स्तर के ऋषि, महर्षि महेश योगी ने लगभग दो सौ महाविद्यालयों की स्थापना की है, जिनमें बहुत उच्च स्तर के वैज्ञानिक; मानव तन का फीजियोलोजी सम्बन्धी अध्ययन में रत हैं। उनकी खोज हमें बताती है कि मानव तन की फिजियोलोजी एक क्षेत्र है-जिसमें मन को विचरण द्वारा अनन्त प्रकार की अनुभूतियां सम्भव हैं। मन जिस चीज की कल्पना कर सकता है-उसका अनुभव भी उसके लिए संभव है। इन अनुभवों की संभावना मात्र इस बात पर निर्भर करती है कि मन; कितने सूक्ष्म से सूक्ष्म पर्तों में विचरण करने में सिद्ध हो चुका है। इसी विचरण के आधार पर सूक्ष्म से सूक्ष्म कल्पना को अनुभव करने की शक्ति वह प्राप्त कर लेता है।

इस तरह से मन के पास अनन्त अनुभवों का क्षेत्र है।

इनमें स्थूल अनुभवों के लिए आन्तरिक जगत में इन्द्रियां हैं और बुद्धि है। जो कुछ भी वह बुद्धि और इन्द्रियों की मदद से अनुभव करता है; केवल उन्हें ही वह बाहर अनुभव करता है।

नेत्र भी एक इन्द्रिय है।

नेत्र के द्वारा जो कुछ भी अनुभव करता है–उसका संबंध नेत्र के खुलने और बन्द होने से भी है। इन्द्रियों से संबन्धित सारे कार्य अन्तःकरण के माध्यम से ही होते हैं। लेकिन अलग अलग इन्द्रियां, शरीर पर भी अंकित हैं।

अनुभव तो मात्र आन्तरिक जगत में ही है।

इन वैज्ञानिकों की खोज हमें बताती है कि जो कुछ भी बाहर दीखता है–वास्तव में वह सब अन्दर ही है। कहने का अर्थ है कि; अन्तर्द्वन्द्व (मनुष्य और राक्षसों का युद्ध) हर युग और हर मनुष्य में होता ही रहा है। कृष्ण (ब्रह्म) हमेशा ही अन्दर है; क्योंकि वह सूक्ष्मतम है। सारे देवतागण–जैसे सूर्य, चन्द्र, राशियां, वायु, अग्नि, ऋतुएं, महीने और दिन –जैसे सोमवार, मंगलवार इत्यादि; सब अन्दर हैं। लेकिन इनकी अनुभूति इन्द्रियों के माध्यम से होती है। ऐसी अनुभूतियों को उन अनुभूतियों से अलग करने के लिए; जो इन्द्रियों द्वारा नहीं होती हैं–सृष्टि में एक माया की रचना हुई। माया; मात्र यह है कि जो अन्दर है (और अन्दर से ही नियंत्रित हो), उसकी अनुभूति ऐसी हो–जैसे वह अन्दर नहीं है। इस सत्य को जब संत तुलसीदास ने अनुभव किया–तो उन्होंने एक चौपाई द्वारा व्यक्त किया कि

जहां तक मनुष्य की दृष्टि जा सकती है–

उसे वह माया ही समझे।

अर्थात् उसे जैसा लगता है–वैसा है नहीं।

दूसरे शब्दों में सूर्य, चन्द्र, तारागण, ऋतुएं इत्यादि लगती बाहर हैं; जबकि होतीं मात्र अन्दर हैं। हमारे सन्त ऋषि मुनि; आन्तरिक जगत के वैज्ञानिक थे।

लेकिन आज कल के वैज्ञानिक मात्र स्थूल जगत के विज्ञान में रत हैं। यही कारण

है कि वे इस सत्य को अनुभव करने में सक्षम नहीं हैं कि इतना शक्तिशाली तन; मात्र मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है–जिसके द्वारा प्रयासहीनता (Meditation) उसे सब कुछ प्राप्त करा सके।

– – – – – – – – – – –

आत्मा

समाज के एक साधारण व्यक्ति ने भी यह सुन रखा है कि हर व्यक्ति के अन्दर ब्रह्म की शक्ति का एक खजाना है - जिसे जीवात्मा कहते हैं। ब्रह्म की शक्ति, प्रकृति की सर्वोच्च स्तर की शक्ति है - अर्थात् प्रकृति की शक्ति की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के पास समान शक्ति है; शक्तिहीन कोई भी नहीं है। धीरे धीरे समाज में आत्म शक्ति सम्बन्धी शिक्षाओं का लोप हो गया और मनुष्य ने इस शक्ति के विषय में सोचना ही बन्द कर दिया। अपने सुख के लिए वह सामाजिक और सांसारिक शक्तियों का सहारा लेने लगा। परिणामस्वरूप अलग अलग व्यक्ति की आत्म शक्ति कम होने लगी। इसलिए तरह तरह की सामाजिक और व्यक्तिगत बुराइयां उत्पन्न होने लगीं। इसी कारण तुलनात्मक जीवन समाज पर हावी हुआ और जीवन में दु:ख बढ़ता ही गया।

आत्म ज्ञान पाने या आत्म शक्ति बढ़ाने का क्या रास्ता है?

आत्मा क्या है?

पुराणों में आत्मा को परिभाषित करने के लिए एक श्लोक है-

''शिवं शान्तं अद्वैतं चतुर्थं मन्यते आत्मा।''

शिव का अर्थ है - कल्याणकारी शक्ति।

आत्मा-एक शक्ति का स्रोत है।

यह शक्ति हर जीवात्मा के लिए कल्याणकारी है।

एक विशेष मन इस कल्याणकारी शक्ति के अस्तित्व को अपनी शान्त अवस्था के रूप में अनुभव कर सकता है।

इसलिए 'शिव' को शान्त बताया गया।

रात्रि में यदि एक कमरे में बल्ब जलायें - तो कुछ उजाला हो जाता है। यदि एक और बल्ब जला दें - तो उजाला और अधिक बढ़ जाता है। ऐसा केवल इसलिए होता है - क्योंकि पहला बल्ब कमरे को पूर्ण रूप से प्रकाशित करने में असमर्थ है। यदि दूसरा बल्ब न जलाएं तो भी, यह कोई नहीं कहता कि कमरे में अंधेरा है।

यह बताता है कि कम रोशनी में कुछ अंधेरा पिरोया रहता है।

मात्र पूर्ण रोशनी में अंधेरा पिरोया हुआ नहीं होता।

पूर्ण रोशनी की अवस्था में कुछ और प्रकाश उत्पन्न करने के बाद, यह महसूसियत नहीं होगी कि प्रकाश बढ़ गया। इस उदाहरण को अनुभव करने के लिए - यदि हम किसी खुले स्थान पर, दोपहर के समय, जब बदली न हो और सूर्य अपनी पूर्ण चमक के साथ चमक रहा हो - तब यदि दस हजार वाट का बल्ब भी जला दें - तो यह नहीं लगेगा कि प्रकाश बढ़ गया।

इसी प्रकार से मनुष्य के अन्दर किसी न किसी डिग्री की शान्ति और किसी न किसी डिग्री की अशान्ति हमेशा ही व्याप्त रहती है।

हो सकता है कि जिस समय बहुत शान्त हो - उसी समय कोई ऐसी घटना हो जाय कि वह मनुष्य तत्काल अशान्त हो जाय। अज्ञानी मनुष्य, अपनी अशान्ति का कारण उसी घटना को समझता है, लेकिन सत्य यह है कि जिस प्रकार से ऊपर समझाया गया - कम रोशनी में कुछ अंधेरा जरूर पिरोया रहता है; बिल्कुल उसी प्रकार से उसके शान्त मन में अशान्ति पिरोयी हुयी थी।

इस पिरोयी हुयी अशान्ति के कारण वह कल्याणकारी शिव की शक्ति का पूर्ण लाभ नहीं उठा पा रहा था।

अपने अन्दर की अशान्ति को कम करने के लिए ही; हम शान्ति बढ़ाने का अभ्यास (ध्यान) करते हैं। यह अभ्यास (Meditation) पहले हमारी जमी हुई अशान्त पर्तों को उभार कर सतह पर लाता है और; फिर धीरे धीरे इसे निकाल कर साधक को शान्त करता है।

स्वयं प्रकृति की यह मांग है।

अत: प्रकृति; साधक की मदद करने हेतु कुछ परिस्थितियां उत्पन्न करके, उसके अन्दर पिरोयी हुयी अशान्ति को मन की सतह पर लाती है; जिससे कि साधक उसी समय मात्र थोड़ी देर के लिए एकान्त और अंधेरे में आंख बन्द करके बैठकर उसे निकाल सके।

जीवन में केवल, क्रिया और आराम का अनुभव होता है।

यदि हम स्वयं अपने आपसे प्रश्न करें कि 'शान्ति' हमें क्रिया प्रदान करती है; या आराम प्रदान करती है– तो अपने आप उत्तर मिलेगा कि हर तरह की क्रिया हमें केवल अशान्त करती है और मात्र विश्राम (Relax) हमें शान्त होने में मदद करता है।

क्रिया में प्रयास है। क्रिया के समय प्रयास का प्रभाव मन में पिरोता है। प्रयास की ये पिरायी हुयी पर्तें ही मन को तरह तरह की अशान्ति प्रदान करती हैं – एक थका हुआ व्यक्ति इस सत्य को आसानी से अनुभव कर सकता है। इसीलिए पिछले कुछ वर्षों से लेखक ने समाज के कुछ साधकों को प्रयासहीनता के अभ्यास (Meditation) का रास्ता बताया; जिससे वे ज्यादा से ज्यादा पिरोयी हुयी प्रयासपूर्ण पर्तों का निष्कासन करके, अपने अन्दर शान्ति बढ़ा सकें।

हम एक शिशु के जीवन की ओर अपना ध्यान ले जायं – तो हमें ज्ञात होगा कि वह लम्बे से लम्बे समय तक गहरे से गहरे आराम (Relax) में रहने योग्य है। इसी कारण हर शिशु का जीवन सुखमय रहता है। लेकिन संसार का एक नियम है कि; हम जिस शक्ति को बढ़ाना नहीं सीखते– वह शक्ति समय के साथ साथ कम अवश्य होती जाती है। ऊपर हमने यह भी देखा कि प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) शिव शक्ति को केवल बढ़ाता है। लेकिन इस अभ्यास को प्रेरित करने वाले समाज में नहीं मिलते – इसीलिए समय बीतने के साथ साथ बच्चा अशान्त होता जाता है।

जीवन में अशान्ति की डिग्री बढ़ने के साथ साथ, कल्याणकारी शिव की शक्ति कम होती जाती है और मनुष्य अकल्याण की अवस्था की ओर बढ़ने लगता है।

कलियुग और सत्युग के समाज में यह एक बहुत बड़ा अन्तर है। हमारे पुराण, हमें बताते हैं कि सत्युग के समाज में; मात्र आठ नौ वर्ष की आयु में बालक अपने गुरुओं के साथ अपना घर छोड़कर रहने लगते थे। उनके गुरु उन्हें प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) पच्चीस वर्श की आयु तक कराकर, उन्हें कम से कम समय में गहरा से गहरा आराम लेने में सिद्ध कर दिया करते थे। फिर वे गीता (2.48) में बताए हुए–'योगस्थ कुरु कर्माणि' के सिद्धान्त (Theory) के आधार पर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते थे। गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने का यह अर्थ नहीं था कि अब वे साधना नहीं करेंगे।

सत्य तो यह है कि मनुष्य जीवन ही एक साधना है। परिणामस्वरूप सत्युग के मनुष्यों का जीवन सबसे ज्यादा सुखी हुआ करता था।

कलियुग में मात्र इस शिक्षा के लोप हो जाने के कारण, हर मनुष्य अपने बच्चों को कठिन परिश्रम द्वारा जीवन को संवारने की शिक्षा देता है। लेकिन जैसा हर व्यक्ति का अनुभव है कि समय बीतने के साथ साथ समाज में केवल दु:ख और कठिनाइयां बढ़ी और; कोई भी अपने जीवन को ज्यादा सुखी बनाने में सफल नहीं हुआ।

पुराणों में एक बात यह भी मिलती है कि जीवात्मा चौरासी लाख (अनन्त) योनियों में भ्रमण करती है। अर्थात् जीव, एक समय में चौरासी लाख में से किसी एक शरीर को धारण करता है। शरीर के विषय में यह भी कहा गया कि

''यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे''

हर शरीर धारण करने वाला जीव, ब्रह्म का अंश ही होता है।

लेकिन जो जीव जैसा शरीर धारण करेगा–वैसा ही उसका व्यक्तिगत ब्रह्माण्ड होगा। इसका अर्थ यह है कि उस जीव में तो सारी शक्ति है–लेकिन उसकी शक्ति की व्यक्त अवस्था, मात्र उसके शरीर विशेष पर ही निर्भर करेगी। सूक्ष्म स्तर के कीड़े मकोड़े, चूहा, बिल्ली, कुत्ता, बकरी, घोड़ा, हाथी और शेर जैसे जानवर समाज में पाये जाते हैं।

लेकिन भौतिक स्तर पर, हर सूक्ष्म शरीर की अपनी एक संरचना है।

उसी के आधार पर शरीर को धारण करने वाला जीव; अपनी आत्मशक्ति को शरीर के माध्यम से व्यक्त कर सकता है। लेकिन सन्त तुलसीदास ने कहा है

''बड़े भाग मानुष तन पावा''

इसका अर्थ मात्र इतना है कि मनुष्य के सूक्ष्म शरीर की सरंचना में; जीवात्मा की अव्यक्त शक्ति को व्यक्त करने की शक्ति इतनी ज्यादा है कि वह अपने व्यक्तिगत जीवन में ब्रह्म स्वरूप हो सकता है। मनुष्य के सूक्ष्म शरीर की रचना की शक्ति सत्युग में सबसे ज्यादा व्यक्त हुई। व्यक्त करने की यह शक्ति मनुष्य अपने कर्मों के माध्यम से; कम भी कर सकता है और बढ़ा भी सकात है। श्रीकृष्ण भगवान की गीता की भाषा में –

> **मनुष्य ज्यों ज्यों सकाम कर्मों में व्यस्तता बढ़ाता है – त्यों त्यों वह अपने सूक्ष्म शरीर की अव्यक्त शक्ति को व्यक्त करने की क्षमता घटाता है।**

इस क्षमता के घटने बढ़ने के आधार पर ही प्रकृति में सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग – जैसे युगों का जन्म हुआ और युगों का चक्र शुरु हुआ।

सकाम का अर्थ है – उत्तेजना सहित।

जीवन के अनन्त क्षेत्रों के क्रिया कलापों की उत्तेजनाओं के आधार पर जीवन में व्यस्तता बढ़ाना ही सकाम कर्मों में व्यस्तता बढ़ाना है। इसके विपरीत –

> **प्रयासहीनता के अभ्यास (Meditation) के माध्यम से जीवन के अलग अलग पहलुओं की इच्छाओं की पूर्ति के रास्ते पर अग्रसर होकर; जीवन के अलग अलग पहलुओं की इच्छाओं को पूरी करके जीवन बिताना ही, निष्काम कर्मों द्वारा जीवन बिताना है। इसी को शिव की शक्ति बढ़ा कर जीवन का कल्याण करना कहते हैं।**

हम ऊपर देख चुके हैं कि ऐसे जीवन में प्रयासहीनता बढ़ती है और; प्रयासहीनता (Meditation) का बढ़ना – मन को और अधिक 'शान्त' करता है। शान्त; अर्थात् शान्ति; चरम सीमा की ओर बढ़ती है। इस तरह से साधक ज्यों ज्यों अपने जीवन में अभ्यास (Meditation) के माध्यम से शान्ति के बढ़ने को अनुभव करता है – भले ही साधना के प्रारम्भ में वह इस शान्ति को मात्र साधना के समय अनुभव करे, उसे समझ लेना चाहिए कि उसके मन ने धीरे धीरे आत्मा के क्षेत्र में

विचरण करना (Meditation) शुरू कर दिया है।

वर्तमान लेख के दो उद्देश्य हैं–

हम आत्मा को कैसे महसूस करें?

उसकी अव्यक्त शक्ति को ज्यादा से ज्यादा कैसे व्यक्त करें?

ऊपर लेखक ने समझाया कि; हमारी साधना किस तरह से धीरे धीरे मन की शान्त अवस्था को चरम सीमा की ओर बढ़ाती है? यदि इस ओर बढ़ना – आत्म क्षेत्र में विचरण (Meditation) के ज्ञान के साथ होता है – तो निश्चित रूप से फल ज्यादा शुभ होगा। लेकिन यदि वह इस रास्ते पर तो है, लेकिन साधना के समय अपनी जीवात्मा को अनुभव नहीं कर रहा है और अपनी साधना को आत्म क्षेत्र में विचरण करना महसूस नहीं कर रहा है – तब फल उतना हितकारी नहीं होगा। मात्र अपना जीवन देखकर किसी भी व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाएगा कि उसका मन जितनी देर जिस क्षेत्र में रहता है–उस क्षेत्र की शक्ति प्राप्त कर लेता है और इसी के आधार पर साधक को साधना करते हुए, यह विश्वास दृढ़ हो जाएगा कि चूंकि अब उसका मन पहले से ज्यादा समय के लिए आत्म क्षेत्र में विचरण कर रहा है–इसलिए निश्चित रूप से जीवात्मा की शक्ति ज्यादा व्यक्त हो रही होगी।

जीवात्मा की शक्ति तुलनात्मक दृष्टि से कुछ ज्यादा व्यक्त हो रही है; यदि साधक इसे भी अनुभव करेगा–तो साधना का फल और अच्छा होगा। मन सुख का भूखा है। उसके समस्त कर्मों का ध्येय तो मात्र सुख की भूख मिटाना है। सृष्टि में सुख केवल दो तरह के हैं – एक वे जो मनुष्य पांच में से किसी एक या सभी ज्ञानेन्द्रियों से महसूस करता है और; दूसरा वह जो वह महसूस तो करता है – लेकिन किसी ज्ञानेन्द्रिय की मदद नहीं लेता। यही आराम का सुख है और गहरे आराम का सुख, कुछ और बढ़ जाता है।

यही ब्रह्मसुख या आत्मसुख है।

इस सुख को मनुष्य एकान्त में, सांसारिक वस्तुओं की अनुपस्थिति में भी महसूस कर सकता है और; सांसारिक वस्तुओं के साथ भी महसूस कर सकता है। जब सांसारिक वस्तुओं की अनुपस्थिति में महसूस करता है – तब यह एक है। लेकिन

जब वह सांसारिक वस्तुओं की उपस्थिति में इन्द्रियों की मदद से महसूस करता है- तब वह अनेक के रूप में रहता है।

इसे हम ज्यादा विस्तार से समझेंगे।

जब रंगीन फोटो किसी कैमरे द्वारा खींचते हैं-तो जिस वस्तु की फोटो लेते हैं- उसके रंग भी फोटो में होते हैं। लेकिन रील का अपना एक बैक ग्राउण्ड (Background) रंग भी होता है और इस रंग का असर हर उस वस्तु के रंग पर पड़ता है - जिसका चित्र खींचा जाता है। इसी प्रकार से-

मनुष्य जब आत्मसुख के साथ इन्द्रिय सुख का भोग करता है - तब आत्म सुख का प्रभाव समस्त इन्द्रिय सुख पर साधक अनुभव कर सकता है।

ऐसा वह कैसे कर सकता है?

पुराण में जीवन को दो भागों में बांट दिया गया है। स्वर्ग और नर्क।

पांच ज्ञानेन्द्रियों के सुख ही नर्क के सुख हैं।

आत्मसुख ही स्वर्ग का सुख है।

लोग स्वर्ग को हमेशा ही सुखदायी और नर्क को दुखदायी मानते रहे हैं। यही हमें बताता है कि पांच ज्ञानेन्द्रियों के सुख-मात्र दुखदायी हैं। लेकिन आत्मसुख-मात्र सुखदायी है। जीवन में हम देखते हैं कि; प्रकाश अंधेरे के दुख को केवल हरता है और; ऐसा तभी होता है - जब अंधेरे और प्रकाश का संगम होता है। बिल्कुल इसी प्रकार से ज्यों ज्यों मनुष्य अपने मन में आत्मसुख पिरोकर इन्द्रिय सुख का भोग करेगा - त्यों त्यों आत्मसुख इन्द्रिय सुख के दुख देने की क्षमता को हर लेगा। दूसरे शब्दों में इन्द्रिय सुख मनुष्य को बढ़ती हुयी आयु में कष्ट देने लायक नहीं रहेगा। इस तरह से हम देखते हैं कि कष्टदायी सुख के भोग के साथ, जीवन की व्यस्तता ही नर्क का जीवन है।

मात्र वह जीवन; जिसमें मनुष्य आत्मवान होकर इन्द्रिय सुख का भोग करे और इन्द्रियों की दुनियां में व्यस्त रहे-यही स्वर्ग का जीवन है।

आज के एक बहुत ऊँचे स्तर के महात्मा, महर्षि महेश योगी 'भूतल पर स्वर्ग बनाने की योजना' में व्यस्त हैं। साधकगण इस लेख को पढ़कर आसानी से समझ सकते हैं कि; 'भूतल पर स्वर्ग' का क्या अर्थ है? ज्यादा से ज्यादा साधक अपनी साधना के फल को भी इस लेख में बताए गए चिह्न के माध्यम से यदि साधना करेंगे-तो निश्चित रूप से साधना का फल जीवन में कुछ ज्यादा तीव्रता के साथ व्यक्त होगा।

ज्यों ज्यों मनुष्य के सूक्ष्म शरीर की संरचना द्वारा अव्यक्त शक्ति को व्यक्त करने की शक्ति बढ़ेगी- त्यों त्यों मनुष्य अखण्ड स्वास्थ्य को प्राप्त होगा।

यदि हम मनुष्य के स्थूल शरीर को पेड़ मान लें - तो सूक्ष्म शरीर की संरचना ही इस पेड़ की जड़ होगी। जड़ की शक्ति के साथ पेड़ की अवस्था; निश्चित रूप से अधिक अच्छी होगी। यही अखण्ड स्वास्थ्य का रास्ता है।

- - - - - - - - - - -

अद्वैतम्

शिवम्, शान्तम्, अद्वैतम्, चतुर्थम् मन्यते आत्मा।

पुराण में आत्मा को परिभाषित करने के लिए जो श्लोक मिलता है-वह बताता है कि जीवात्मा जीवन के लिए हमेशा कल्याणकारी है। यह मन की शान्त अवस्था की चरम सीमा के रूप में अनुभव किया जा सकता है। ज्यों ज्यों साधक का साधना में समय बढ़ता है – कहने का अर्थ यह है कि वह कितने वर्षों से साधना कर रहा है – त्यों त्यों उसकी शान्त अवस्था बढ़ती ही जाती है। शान्त अवस्था के बढ़ने की अनुभूति को 'अद्वैतम्' की अनुभूति द्वारा समझाया गया है।

साधकगण इसे कुछ उदाहरणों द्वारा अच्छी तरह समझें।

प्रतिदिन प्रात: सूर्य निकलता है। किसी भी दिन सूर्य का निकलना मात्र देखें – तो अपने आप मन में भाव उठेगा कि एक सूर्य में से धीरे धीरे किरणों का बिखरना आरम्भ होता है और अनन्त तक बढ़ता ही चला जाता है।

यह एक से अनेक का उदाहरण है।

इसी तरह से यदि हम सायंकाल के समय सूर्य के डूबने का दृश्य नेत्रों से देखें – तो अपने आप लगेगा कि सूर्य की सारी किरणें धीरे धीरे सूर्य में समाती चली जा रही हैं। यह अनेक से एक का भाव है।

इस भाव को अद्वैतम् कहा गया है।

हम जीवन का एक और उदाहरण लेते हैं। ज्यों ज्यों मनुष्य अपनी दिनचर्या की क्रियाओं के कारण, थकावट महसूस करता है-सारी क्रियाएं मात्र एक ओर इशारा करती हैं और वह है – आराम।

सारी क्रियाओं का केवल एक ओर मुड़ जाना;

द्वैत से अद्वैत की ओर ही मुड़ना होता है।

हम नित्य रात में गहरी निद्रा के बाद प्रात: उठते हैं। केवल उस समय की अनुभूति को याद करें – जब हम निद्रा से जागृत अवस्था में आते हैं। यद्यपि हर मनुष्य के पास नित्य के कितने ही कार्य रहते हैं, लेकिन उस क्षण-जब हमारी निद्रा टूटती

है-हम नित्य के सारे काम भूले रहते हैं। यद्यपि हमारे मन में दिनचर्या की सारी क्रियाएं करने की बात रहती है।

ऐसी अनुभूति को 'अद्वैतम् की अनुभूति' कहा गया है।

इस श्लोक के अर्थ के माध्यम से साधक यह समझ सकता है कि गहरी निद्रा के समय, मन जीवात्मा के क्षेत्र में शक्ति पाने हेतु प्रवेश करता है। लेकिन चूंकि वह घोर निद्रा की अवस्था में रहता है-उसे इस प्रवेश की अनुभूति नहीं होती। अत: इस प्रकार मन का आत्मक्षेत्र में प्रवेश, आत्म ज्ञान में मदद नहीं करता। इसीलिए साधकों को उसी गहरी आराम का अभ्यास (Meditation) जागृत अवस्था में सिखाया गया-जिससे कि साधकगण इस ज्ञान के साथ साथ जीवात्मा के क्षेत्र में प्रवेश करें। जब वे प्रवेश करें-तो यह आवश्यक है कि वे यह पहचानना भी सीख लें कि किन चिह्नों के माध्यम से उन्हें समझ में आएगा कि मन जीवात्मा के क्षेत्र में विचरण कर रहा है। इसीलिए श्लोक में संज्ञा –

'आत्मा' के लिए विशेषण 'अद्वैतम्' का प्रयोग किया गया।

श्लोक हमें बताता है कि प्रयासहीनता के अभ्यास (Meditation) के समय, ज्यों ज्यों हमारा मन शान्त अवस्था की ओर अग्रसर हो और; इस शान्त अवस्था की अनुभूति सिकुड़ते हुए विचारों के रूप में (अर्थात् अद्वैत की ओर बढ़ते हुए करें); तो साधक को ज्ञान हो जाए कि अभ्यास के समय उसका मन आत्म क्षेत्र में विचरण कर रहा था।

ध्यान का लक्ष्य तो केवल जीवात्मा को पहचानना

और पहचानने के पश्चात् जानना है।

हम जितनी गहराई से जीवात्मा को जान लेंगे– उतनी आसानी से इस खजाने की शक्ति को जीवन की दिनचर्या में अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रयोग करने में अभ्यस्त होने लगेंगे। धीरे धीरे साधक उस कल्पवृक्ष की ओर अग्रसर होगा-जिस कल्पवृक्ष के पास पहुंचने पर संत तुलसीदास द्वारा बतायी हुई कहावत –

''जो इच्छा करिहहु मनमाहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥''

की अनुभूति होने लगेगी। संत तुलसीदास इस चौपाई द्वारा उस कल्पवृक्ष की ओर

ही इशारा कर रहे हैं-जिसका वर्णन हमें मात्र शास्त्रों में मिलता है।

जहां पर भी कल्पवृक्ष का वर्णन आता है-उसे स्वर्ग और देवी देवताओं का स्थान ही बताया जाता है। यह स्थान निश्चित रूप से पराजगत में ही स्थित है। अत: इसे अनुभव करने की ताकत; मात्र 'पराचेतना' में ही है। यह पराजगत ही; समस्त देवी देवताओं का घर है। यहां मनुष्य का मन, मात्र फिसल कर जाता है। पृथ्वी पर शरीर की क्रियाएं और पैरों का फिसलना-दोनों की अनुभूति एक साधारण मनुष्य को है। मनुष्य हर समय फिसलकर नहीं गिरता-क्योंकि प्रकृति ने पृथ्वी को जो गुरुत्वाकर्षण शक्ति प्रदान की है-उसके कारण हर दो वस्तुओं के सम्पर्क के बीच में एक घर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। विज्ञान का एक छोटे दर्जे का विद्यार्थी भी इस बात को जानता है।

> **बिलकुल इसी प्रकार की घर्षण शक्ति सूक्ष्म जगत में; अर्थात् विचारों के क्षेत्र में उस समय महसूस की जा सकती है-जिस समय हमारी बुद्धि क्रियाशील होती है।**

एक साधक आसानी से अनुभव कर सकता है कि बुद्धि के क्षेत्र में मन में उठते हुए विचार फिसलने नहीं पाते-दूसरे शब्दों में नियंत्रित रहते हैं। लेकिन सारे साधक विचारों के क्षेत्र में एक दूसरा क्षेत्र भी अनुभव करते हैं और यह; बुद्धि से परे का क्षेत्र होता है-अर्थात् विचारों को नियंत्रित रखने वाली शक्ति, पराजगत में क्रियाशील नहीं रहती।

इन्द्रिय जगत में मन और बुद्धि के योग से एक 'मैं' उत्पन्न होता है और यह 'मैं' पराजगत में नहीं होता। अर्थात् जब मन पराजगत में प्रवेश करेगा-तब, न तो भावों को नियंत्रित करने वाली बुद्धि होगी और न ही जागृत चेतना का 'मैं' होगा-यद्यपि पराचेतना का 'मैं' अवश्य होगा। पराजगत के 'मैं' की अनुभूति 'स्वयं' के रूप कैसे होगी? पराजगत के 'मैं' की अनुभूति तो केवल उसे होगी-जो पराचतेना को प्राप्त हो जाएगा। लेकिन एक साधारण मनुष्य-जो मात्र तीन; घोर निद्रा, स्वप्न और जागृत चेतनाओं में रहता है-उसे पराचेतना के 'मैं' की अनुभूति नहीं हो पाती। जो ध्यान का अभ्यास (Meditation) काफी दिनों से कर

रहे हैं-उन्हें उपरोक्त बतायी हुई अनुभूतियां भी अनुभव में अवश्य आयेंगी। इस लेख के माध्यम से पराजगत में प्रवेश, अनेक क्रियाओं को अशान्ति से 'एक' की ओर अगसर होना-अर्थात् शान्त अवस्था की ओर अग्रसर होना-महसूस करना, आसान होगा। 'अद्वैतम्' की अनुभूति इस साधना के माध्यम से धीरे धीरे स्पष्ट होगी। इस अनुभूति की स्पष्टता के साथ विचरण करके इन्द्रिय जगत के क्षेत्र में बार बार वापस आयेगा-तो उसे जीवात्मा के क्षेत्र का ज्ञान भी होगा।

चतुर्थम्

आत्मा को 'शिवम्' के रूप में कैसे पहचानें?

ऊपर हमने देखा कि जीवात्मा के क्षेत्र को 'अद्वैतम्' के रूप में कैसे पहचानें? इसी आत्म क्षेत्र से सम्बन्धित एक और विशेषण 'चतुर्थम्' का भी प्रयोग किया गया है।

वर्तमान समाज में एक व्यक्ति का जीवन मात्र तीन चेतनाओं में रहता है; घोर निद्रा, स्वप्न और इन्द्रिय सुखों की चेतना। ये तीन चेतनाएं, पांच ज्ञान इन्द्रियों और पांच कर्म इन्द्रियों संबन्धित क्रियाओं और विचारों के क्षेत्र के समस्त ज्ञान को हमें प्रदान करती हैं।

ये क्षेत्र, सीमाओं के क्षेत्र हैं।

हम इन सीमाओं के क्षेत्र को कैसे अनुभव करते हैं? - जैसे मान लें कि हम कुछ देख रहे हैं-तो यह निश्चित है कि कुछ देर के बाद यह देखना बन्द हो जायेगा और कुछ दूसरी चीज का देखना शुरू हो जाएगा।

> **इस तरह से यह स्पष्ट है कि देखने की चेतना, एक सीमित क्षेत्र में एक सीमित समय के लिए ही रह सकती है।**

दूसरे शब्दों में देखने की चेतना के पास देखने के लिए कोई असीम क्षेत्र है ही नहीं-ऐसा हर व्यक्ति के अनुभव का ज्ञान है।

यह ज्ञान नित्य है; इसीलिए अखण्ड है और शाश्वत है।

ऐसे उदाहरण हम-पांच में से, किसी भी इन्द्रिय जगत के विषय में ले सकते हैं।

यह प्रमाणित हो जाने के बाद कि इन्द्रिय जगत की चेतना सीमित है–उसे 'अखण्ड का क्षेत्र' कहना निश्चित रूप से गलत होगा।

आत्मा तो अखण्ड की शक्ति का; कभी न खत्म होने वाला भण्डार है।

अर्थात् आत्मधन का भण्डार है और इस धन के माध्यम से पराजगत के क्षेत्र की वस्तुएं मिलती हैं। अब साधकों के लिए समझना आसान होगा कि हर तरह के जीवन में दो तरह के धन हैं–आत्मधन और समाज का धन। समाज में हर व्यक्ति की अनुभूति है कि वह अपने समाज के धन को भी छिपा करके ही रखता है। एक पिता भी कम से कम अपने अज्ञानी पुत्र से तो अपना धन, अवश्य छिपाकर ही रखता है।

बिलकुल इसी प्रकार से स्वयं प्रकृति, अपने अज्ञानी पुत्रों से–अर्थात् केवल तीन चेतनाओं में रहने वाले पुत्रों से 'पराधन' को छिपाकर ही रखती है। पराधन, केवल उसी मनुष्य को मिलता है–जो पराचेतना और पराज्ञान को प्राप्त हो जाता है। हम अपने अपने घरों में अलमारी में रखे हुए सामान को छिपाने के लिए, पर्दों का इस्तेमाल करते हैं। इसी प्रकार से ये तीन चेतनाएं, प्रकृति के वे दिव्य पर्दें हैं–जो पराजगत के धन को छिपाने में सफल होते हैं। इसीलिए श्लोक–

'शिवम्, शान्तम्, अद्वैतम्, चतुर्थम् मन्यते आत्मा'

में यह बताया गया है कि जीवात्मा तो चतुर्थ चेतना है। मन, चतुर्थ चेतना को प्राप्त हो जाय–मात्र इसे मन का आत्मजगत में प्रवेश कहा जाता है।

इस चतुर्थ चेतना की अनुभूति कहां से प्रारम्भ होती है?

लेखक पहले भी बता चुका है कि जागृत अवस्था में प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) करने वाले साधक को शुरू में ही -निश्चित रूप से - एक अनुभूति होती है कि पता नहीं मन; कब और कहां चला गया। समाज में साधारण व्यक्ति को बताया नहीं गया कि

जीवात्मा क्या है? हम जीवात्मा को कैसे पहचानें?

इस अज्ञानता के कारण आत्मशिक्षा संबंधित गलत धारणाएं, समाज में प्रचलित हो

गईं और जीवन पर इसका बहुत ही दुखदायी प्रभाव पड़ा। समाज में यह प्रचलित हो गया कि; मन को एकाग्र हो जाना है। शिक्षकगण ठीक से समझा नहीं पाये कि

'अद्वैतम् की अनुभूति ही एकाग्रता है।'

इस कारण यह भ्रम हो गया कि; एकाग्र हो नहीं जाना है–बल्कि बुद्धि की मदद से करना है। ऊपर लेखक ने विस्तार से समझाया कि मन को तो 'पराजगत' - अर्थात् बुद्धि से परे के जगत में भ्रमण करना है। लेकिन समाज के साधारण मनुष्यों ने मन को बुद्धि जगत से पराजगत में ले जाने के लिए, बुद्धि के प्रयोग को सही रास्ता मान लिया।

बुद्धि से परे की दुनियां में बुद्धि की सफलता का सवाल ही नहीं उठता। लेकिन साधारण मनुष्य की दिनचर्या ऐसी है कि मात्र अपनी बुद्धि पर विश्वास करना, उसका स्वभाव बन गया है।

इसीलिए बिना बुद्धि के कर्म करने की बात वह सोच ही नहीं पाता। फिर भी परमपिता परमात्मा (प्रकृति), उसे मदद करती है और बुद्धि से पार ले जाती है। लेकिन साधारण मनुष्य अपने अज्ञान (Ignorance) के कारण अपनी सफलता को असफलता मानता है।

हीरे को पत्थर मानने वाला, हीरे का प्रयोग कैसे सीखेगा?

इसीलिए लेखक ने ऊपर स्पष्ट करने की कोशिश की है कि बुद्धि से परे जगत में, बुद्धि से उत्पन्न घर्षण की अनुपस्थिति में मन फिसलकर भावों से परे जाता है–अर्थात् वह भावातीत हो जाता है।

भावों की अनुपस्थिति में कुछ भी पता लगना असंभव है।

लेकिन इतना स्पष्ट है कि हम किसी ऐसी दुनियां में चले गये, जहां कुछ पता चलना असम्भव है। यह अनुभूति बाहर के चेतना की नहीं है - अर्थात् आन्तरिक चेतना में स्थित, भावातीत क्षेत्र की है।

यही चौथी चेतना की अनुभूति है। यही आत्मा है।

पृथ्वी पर दिन और रात केवल इसीलिए होते हैं; क्योंकि पृथ्वी का रूप ऐसा है कि

सूर्य पृथ्वी के हर भाग को एक साथ प्रकाशित करने में असमर्थ है। जहां तक प्रकाशित कर पाता है, वहीं तक सूर्य का क्षेत्र माना जाता है। ऊपर हमने देखा कि चतुर्थ चेतना, हमें भावातीत क्षेत्र का ज्ञान देती है।

यह भावातीत क्षेत्र, एक सूर्य के रूप में क्रियाशील है।

ज्यों ज्यों हम सूर्य से दूर होंगे-बाहर के सूर्य की गर्मी निश्चित रूप से कम होगी। बिल्कुल इसी प्रकार से

ज्यों -ज्यों मनुष्य का मन; सूर्य रूपी आत्मा से दूर होगा।

त्यों त्यों आत्मशक्ति कम होती जाएगी।

जैसे सूर्य का प्रकाश वहां, हम नहीं मानते – जहां अंधेरा है। उसी प्रकार से मन की दूरी, सूर्य रूपी आत्मा से बढ़ते बढ़ते; जब दूरी इतनी बढ़ जाती है कि मन इन्द्रिय और बुद्धि के प्रभाव में आने लगता है-उस समय आत्मशक्ति, जो मन के भावों को नियंत्रित नहीं होने देती थी-अर्थात् पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रखने में सक्षम थी; अब मन के भावों को स्वतंत्र रखने में असफल होने लगी और बुद्धि, नियंत्रित करने में सफल हो गयी। इस तरह से आत्मिक जगत में भावातीत क्षेत्र के साथ, एक भावातीत के क्षेत्र के प्रभाव के अन्तर्गत, वह क्षेत्र है-जिसमें भावों को पूर्ण रूप से स्वतंत्र रखने की क्षमता है और यही पूरा, आत्मा का क्षेत्र कहलाता है। यहां पर इस सृष्टि के उत्पादन की शक्ति है-पूरे ब्रह्माण्ड को रचने की शक्ति है।

पूरे विश्व ब्रह्माण्ड को रचने की शक्ति, मनुष्य के आत्म क्षेत्र में है

और यह आत्म क्षेत्र, मनुष्य की तीन चेतनाओं से ढकी है-

यदि किसी को आत्मा को ढूंढ़ना है, जानना है, पहचानना है-

तो मन को चतुर्थ चेतना में प्रवेश करने का अभ्यास करना पड़ेगा।

चतुर्थ चेतना में ज्यादा से ज्यादा समय रहने का अभ्यास करना पड़ेगा।

पिछले लेख में बताये हुए आत्मा को परिभाषित करने वाले श्लोक के माध्यम से ऊपर लेखक ने समझाया कि; जीवात्मा को हम कैसे पहचानें? बाहर की दुनियां में भी, जब हम किसी अजनबी व्यक्ति से पहली बार मिलते हैं-तो हम केवल उसे

पहचानते हैं। उसे जानते नहीं। इस तरह हम समझ सकते हैं कि;

पहचानना; ज्ञान की पहली सीढ़ी है और; जानना दूसरी सीढ़ी है।

यही हमें बताता है कि; पहचानने में भले ही समय न लगे, लेकिन जानने में तो समय अवश्य लगता है। साधकगण को एक अनुभूति यह भी है कि; ध्यान पर बैठने पर, न मालूम कब मन कहां से कहां चला गया? लेकिन यह अनुभूति (कि वह न मालूम कब ओर कहां चला गया?), केवल उस समय होती है-जब उसकी अपनी जागृति (consciousness) वापिस आ जाती है। दूसरे शब्दों में जब उसका इन्द्रिय जगत की चेतनाओं में महसूस होने वाला 'मैं' फिर वापिस आ जाता है-अर्थात् मन एक बार फिर बुद्धि से जुड़ जाता है। यह इस बात का प्रमाण है कि तीसरी चेतना-अर्थात् दसों इन्द्रियों और बुद्धि से संबंधित विचारों और क्रियाओं को अनुभव करने वाली चेतना ही, जानने की चेतना है-भले ही हमें स्वयं, जीवात्मा या परमात्मा को क्यों न जानना हो। सृष्टि में हर चीज को जानने के लिए हमें जागृत चेतना में अवश्य आना पड़ेगा; अत: यदि पराचेतना को जानना है-तो हमें पराचेतना और जागृत चेतना का घोल बनाना पड़ेगा। समझने के लिए; जैसे हम बाहर की दुनियां में भी अलग अलग चीजों को मिलाकर मात्र एक नमक या चीनी को अनन्त रूप में अनुभव करते हैं-इसी प्रकार से जब हम परा की चेतना और जागृत चेतना का घोल बनाने में सफल होते हैं-तब जागृत चेतना की अनन्त अनुभूतियों को पराचेतना के साथ अनुभव करने लायक हो जाते हैं। इस प्रकार से हम पराचेतना को साधना की मदद से जागृत चेतना के अनन्त क्षेत्रों में लाने में सफल हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में

भूतल पर स्वर्ग बनाना असंभव नहीं होगा।

भूतल का अर्थ है-इन्द्रियों और बुद्धि से संबंधित क्रियाओं और विचारों की चेतना में मन का रहना।

तीसरी और चौथी चेतना का संगम-

बुद्धि से नियंत्रित विचारों के क्षेत्र में होता है।

– – – – – – – – – – –

सूक्ष्मदर्शिता

शिवम्, शान्तम्, अद्वैतम्, चतुर्थम् मन्यते आत्मा।

हमने, शास्त्रों में मिले हुए आत्मा की परिभाषा के आधार पर यह समझा कि; विचारों के किन गुणों से एक साधक को यह प्रमाण मिलता है कि उसका मन कब आत्म क्षेत्र में रहता है और; कब आत्म क्षेत्र से इन्द्रिय क्षेत्र में वापस आता है? जब मन इन्द्रिय क्षेत्र में वापस आता है-तब वह अपने 'मैं' को फिर से महसूस करता है। और जब मन आत्म क्षेत्र में चला जाता है-तब उसका अपना 'मैं' भी समाप्त हो जाता है।

ज्ञान प्राप्त करने वाला, मात्र 'मैं' होता है।

इसलिए साधक को समझना यह है कि; जिस क्षेत्र में 'मैं' की संभावना ही नहीं-उस क्षेत्र का ज्ञान, 'मैं' किस प्रकार पा सकता है? इसी प्रश्न पर चर्चा इस लेख में करेंगे।

अस्तित्व; मात्र मन और बुद्धि का होता है।

इन्द्रिय के क्षेत्र में मन और बुद्धि के योग से 'मैं' उत्पन्न होता है। आत्म क्षेत्र; बुद्धि से परे है। अत: आत्म क्षेत्र में विचरण करने के लिए मन को बुद्धि से अलग होना ही पड़ता है। अलग होते ही मन उस क्षेत्र में चला जाता है-जिस क्षेत्र में उसकी गति पर कोई बन्धन सम्भव नहीं होता।

उस क्षेत्र में आत्मतत्व की कमी नहीं है।

आत्मतत्व के क्षेत्र में विचरण करने के पश्चात् मन; इन्द्रिय क्षेत्र में जब वापस आता है-तब उसके साथ बिल्कुल ऐसा ही होता है-जैसा शरीर जब पानी में स्नान करके वापस पानी के बाहर आता है। जब शरीर पानी में स्नान करता है-तब कुछ पानी शरीर के छिद्रों से अन्दर चला जाता है और कुछ पानी शरीर पर रहता है। जब तक पानी रहता है; कहा जाता है कि वह भीगा है। वह सूख गया; इसका अर्थ केवल इतना है कि जो पानी शरीर पर था और शरीर में पिरो नहीं पाया था-वह पानी बाह्य जगत की वायु ने ले लिया। बिल्कुल इसी प्रकार से-

जब मन आत्मतत्व में स्नान करके इन्द्रिय जगत में वापस आता है-तब कुछ आत्मतत्व मन में पिरो जाता है और कुछ मन पर रहता है। जो आत्मतत्व, मन पर रहता है-वह इन्द्रिय क्षेत्र को प्राप्त हो जाता है।

प्रयासहीनता के बढ़ते हुए अभ्यास के साथ; हर मनुष्य का मन आत्मतत्व को करोड़ों बार पिरोता है। इस प्रकार से मन में आत्मतत्व बार बार पिरोने से आत्मसुख (Bliss) उभरने लगता है। इसके साथ साथ आत्मतत्व पिरोकर भी इन्द्रिय सुख (Pleasure) के जगत में ही मन आता है-जिससे धीरे धीरे हर मन में आत्मसुख और इन्द्रिय सुख के घोल का आभास उत्पन्न होने लगता है। अभ्यास (Meditation) बढ़ने के साथ साथ इस घोल में आत्मसुख का इकट्ठापन बढ़ता ही चला जाता है। अब यह समझना आसान होगा कि मन की अवस्था, प्रयासहीनता के अभ्यास के साथ कैसे बदलती चली जाती है? धीरे धीरे बदलते हुए मन के आत्मसुख (Bliss) का आभास इन्द्रियसुख (Pleasure) के आभास पर हावी होने लगता है। बदला हुआ मन, जब बुद्धि के योग से 'मैं' का रूप धारण करता है-तब 'मैं' की अवस्था भी बदल रही है। इस 'मैं' को, आत्मसुख की अनुभूति बढ़ती चली जाती है। आत्मक्षेत्र; इन्द्रियक्षेत्र से बहुत सूक्ष्म होता है। इस सूक्ष्म क्षेत्र का दर्शन करने वाला, आत्मसुख (Bliss) होता है। इस प्रकार से बदलता हुआ 'मैं'; सूक्ष्मदर्शी होने लगता है।

सूक्ष्मदर्शी होने के साथ साथ; सूक्ष्मजगत का ज्ञान, 'मैं' में उभरने लगता है और अहंकार नष्ट होने लगता है।

उदाहरण- जब हम पानी में चीनी को घोलते हैं- तो पानी में चीनी का गुण उभर आता है। चाशनी बनाने के लिए पानी की मात्रा नहीं बढ़ाते, केवल चीनी की मात्रा बढ़ाते हैं। ज्यादा से ज्यादा गाढ़ी चाशनी का अर्थ; केवल इतना है कि कम से कम पानी में, ज्याद से ज्यादा चीनी घुल गई। इस चाशनी का प्रयोग केवल चीनी के मिठास की अवस्था का ज्ञान करने के लिए हो सकता है। यह कोई दूसरा ज्ञान नहीं दे सकता। बिल्कुल इसी प्रकार से-

इन्द्रिय क्षेत्र के गुणों में ज्यादा से ज्यादा आत्म क्षेत्र के गुणों को घोल

कर, मन में पिरो देने के पश्चात् इस मन द्वारा उत्पन्न 'मैं' धीरे धीरे, ज्यादा से ज्यादा सूक्ष्मदर्शिता का गुण अपने में उभार लेता है।

इस सूक्ष्मदर्शिता का गुण ही; मनुष्य को आत्मक्षेत्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म क्षेत्र का ज्ञान करा देता है। हम बहुत अच्छी तरह अनुभव करते हैं और कई लेखों में देख चुके हैं कि 'सूक्ष्मक्षेत्र', करने का क्षेत्र नहीं है, प्रयास का क्षेत्र नहीं है-यह मात्र; होने का क्षेत्र है। 'होने' के माध्यम से मात्र क्रियाएं होती हैं। अत: प्रमाणित हुआ कि; 'होना' तो केवल करने का इकट्‌ठापन है। जैसे चीनी के इकट्‌ठापन में केवल चीनी की मिठास का गुण है-उसी प्रकार से करने के इकट्‌ठापन में केवल क्रियाओं का आभास है। बुद्धि के जगत में, यह हमारी अनुभूति है कि छोटी से छोटी क्रिया के लिए, क्रिया का ज्ञान आवश्यक है। क्रिया के ज्ञान की अनुपस्थिति में, क्रिया असंभव है। यह इस बात को प्रमाणित करता है कि; जिस क्षेत्र में 'होने की शक्ति' के माध्यम से क्रिया होती है - उस क्षेत्र की समस्त क्रियाओं के ज्ञान का इकट्‌ठापन, उसी क्षेत्र में है। ज्यों ज्यों 'सूक्ष्मता' बढ़ती है-त्यों त्यों क्रियाओं का इकट्‌ठापन और क्रियाओं के ज्ञान का इकट्‌ठापन बढ़ता है।

अत: एक साधारण तर्क के आधार पर समझा जा सकता है कि; 'सूक्ष्मतम क्षेत्र' में 'समस्त विश्व ब्रह्माण्ड' की क्रियाओं के होने के ज्ञान का इकट्‌ठापन अवश्य होगा।

खोज का सिद्धान्त यह है कि; हम जो जानते हैं-उसके आधार पर ही, नयी चीजों की खोज करते हैं। जैसी खोज होती है-वैसे उदाहरण, जानने की दुनियां में अवश्य मिल जाते हैं। इसीलिए हम जानने की दुनियां में भी एक क्षेत्र देखते हैं-जहां पर एक विशेष प्रकार की क्रियाओं का होना और क्रियाओं के होने के ज्ञान का इकट्‌ठापन-एक साधारण से साधारण मनुष्य, महसूस कर सकता है।

इन्द्रिय जगत में पृथ्वी दो प्रकार की होती है। उपजाऊ ओर बंजर।

बंजर पृथ्वी को भी खाद पानी देकर, हम उपजाऊ बना देते हैं। उपजाऊ जमीन को यदि बीज मिल जाय-तो बीज और पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति के योग में, एक विशेष क्रियाओं के होने का इकट्‌ठापन, साधारण मनुष्य को भी महसूस हो सकता

है। इन क्रियाओं के इकट्‌ठापन में बीज में से, पूरे पेड़ को निकालने की शक्ति है। पेड़ निकलने की क्रियाएं होती हैं - क्रियाएं; की नहीं जातीं। क्रियाओं का होना-इस बात का प्रमाण है कि क्रियाओं के ज्ञान का इकट्‌ठापन भी है।

भौतिक दृष्टि से भी हम अनुमान कर सकते हैं कि एक बीज में पूरे पेड़ का इकट्‌ठापन है।

बिल्कुल इसी प्रकार से कहीं न कहीं पर, पूरे विश्व ब्रह्माण्ड का इकट्‌ठापन अवश्य है।

यही विश्व ब्रह्माण्ड का बीज है और इसी को ब्रह्म कहते हैं।

यही सूक्ष्मतम है। यदि एक मनुष्य के जीवन की ओर अपना ध्यान ले जाएं-तो उसके जीवन में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव ही; सबसे स्थूल क्रियाएं हैं। कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रियाएं, स्थूल क्रियाएं हैं। हमारे विचारों का क्षेत्र, ज्ञानेन्द्रियों से परे है। विचारों का क्षेत्र भी दो भागों में बंटा है। जिस क्षेत्र के विचार बुद्धि द्वारा नियंत्रित होते हैं-वह विचारों का स्थूल क्षेत्र है। यद्यपि क्रियाओं से सूक्ष्म क्षेत्र हैं; लेकिन एक ऐसा भी क्षेत्र अनुभव में आता है-जिस क्षेत्र के विचारों को नियंत्रित करने की शक्ति; बुद्धि में भी नहीं है। यह क्षेत्र; बुद्धि के अन्तर्गत उठने वाले क्षेत्र से भी सूक्ष्म है। सूक्ष्मतम् तो वह है-जो सारे विचारों से परे है, अर्थात् भावातीत (Transcendental) है। वही पूरे विश्व ब्रह्माण्ड का बीज है। इन्द्रिय जगत में हमने देखा कि पूरे पेड़ का इकट्‌ठापन, बीज है। लेकिन बीज में से पेड़ को निकालने की शक्ति तो उपजाऊ जमीन और बीज के योग में है।

इसी प्रकार से हर मनुष्य का मन, ब्रह्मलोक की जमीन है।

मन की इच्छाएं, पृथ्वी रूपी मन के बीज हैं।

इन बीजों में ही इच्छापूर्ति सम्बन्धित क्रियाएं पिरोई रहती हैं।

ज्यों ज्यों साधना द्वारा मन में परासुख पिरोता है-मन उपजाऊ होने लगता है, और उपजाऊ मन में ही; इच्छाएं होने के कारण-मन की उपजाऊ शक्ति और बीजरूपी इच्छाओं का योग हो जाता है। इस योग में होने के स्तर पर, उन क्रियाओं का ज्ञान है-जिन क्रियाओं के माध्यम से, वे परिस्थितियां बन सकें-जो साधक की इच्छाओं

की पूर्ति कर सकें। इस तरह से हम देखते हैं कि साधना में अग्रसर होने के साथ साथ मनुष्य किसी स्तर की इच्छाओं को पूरी करने की शक्ति प्राप्त कर सकता है; यद्यपि, जैसे पेड़ में फल केवल समय पर लगते हैं-इच्छाओं की पूर्ति केवल समय आने पर ही होती है। तत्काल तो केवल उनकी इच्छाएं पूरी होती है-जो ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं।

हम अच्छी तरह जानते हैं कि विश्व ब्रह्माण्ड की समस्त अनुभूतियां, मात्र मन की होनी हैं। समस्त क्रियाओं का ज्ञान; मात्र 'मैं' का होना है। मन के विचरण का सूचक, मन में उठते हुए विचार हैं। दूसरे शबदों में विचार; मन द्वारा होने वाले कर्म हैं। हम यह भी ऊपर देख चुके हैं कि क्रियाओं का और क्रियाओं के ज्ञान का इकट्ठापन; मात्र सूक्ष्म क्षेत्र में है। हम यह भी देख चुके हैं कि मनुष्य का मन, चार क्षेत्रों में विचरण करता है :-

(1) इन्द्रिय जगत की क्रियाओं और अनुभूतियों का क्षेत्र।

(2) बुद्धि के अन्तर्गत उठते हुए विचारों का क्षेत्र।

(3) बुद्धि से परे क्षेत्र में उठते हुए विचारों का क्षेत्र और

(4) भावातीत क्षेत्र।

हम यह भी देख चुके हैं कि ज्ञान केवल 'मैं' को मिलता है।

ज्ञान पाने वाला 'मैं'; यदि मात्र इन्द्रिय जगत की क्रियाओं और अनुभूतियों के क्षेत्र में रहेगा-तो करने की दुनियां के दलदल में धंस जायेगा। इस क्षेत्र में करने की थकावट के दु:ख से छुटकारा पाना; असंभव हो जाएगा। थकावट; इस सृष्टि का सबसे बड़ा दु:खदायी अस्तित्व है और मन, बुद्धि और शरीर में इस की अनन्त पर्तों के इकट्ठा हो जाने का सामर्थ्य है। मात्र इसकी पर्तों के इकट्ठा होने के आधार पर ही; जीवन के अलग अलग दु:ख हैं। अत: क्रियाओं के दलदल में धंसने वाला व्यक्ति, चाहे जितने ही जन्म ले ले-इस दलदल से बाहर नहीं निकल पाता। इस दलदल से बाहर निकलने का केवल एक ही रास्ता है और वह है कि; वह अपने अन्दर क्रियाओं के इकट्ठेपन के क्षेत्र में, क्रियाओं के ज्ञान के इकट्ठेपन (अर्थात् होने की शक्ति के ज्ञान) को प्राप्त कर ले।

उसे सूक्ष्मदर्शी होने की विद्या की ओर अग्रसर होना पड़ेगा।

दूसरे शब्दों में उसे सूक्ष्म जगत की शक्ति प्राप्त करनी पड़ेगी। इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए, मन को सूक्ष्म जगत में विचरण कराने का अभ्यास (Meditation) करना होगा। हम पहले ही देख चुके हैं कि सूक्ष्म जगत, बुद्धि से परे का जगत है। मात्र बुद्धि के माध्यम से, प्रयासपूर्ण कर्म करने की संभावनाएं हैं। अत: सूक्ष्म जगत में मन के विचरण का अभ्यास करने के लिए, मनुष्य को नित्य कुछ समय प्रयासहीन कर्मों (Meditation) के लिए निकालना अत्यन्त आवश्यक है। ये कर्म नित्य हैं। अत: यदि ये अनित्य हो गये-तो जीवन का चलना ही संभव नहीं होगा; यह स्वयं प्रकृति जानती है।

मनुष्य द्वारा कर्म का आधार, हमेशा उसका ज्ञान होगा।

जैसा ज्ञान; वैसा कर्म - अर्थात् जैसा ज्ञान होगा; मात्र उसी के आधार पर मनुष्य अपने कर्मों का क्षेत्र चुनेगा। यदि हम आज के युग के मनुष्यों की ओर अपना ध्यान ले जायें-तो हम देखते हैं कि मुश्किल से ही ऐसे लोग मिलते हैं, जो पराक्षेत्र को कर्म क्षेत्र-अर्थात् मन के विचरण का क्षेत्र चुनते हैं और ऐसे क्षेत्रों में कर्म के लिए समय निकालते हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि प्रकृति में समस्त विश्व ब्रह्माण्ड की क्रियाओं और क्रियाओं के ज्ञान का क्षेत्र, भावातीत क्षेत्र (Transcendental Field) है। यह क्षेत्र सूक्ष्मतम है। इस क्षेत्र की शक्ति सबसे सूक्ष्मदर्शी होने के कारण; त्रिकालदर्शी है।

यहीं से प्रकृति के सारे नियम निकले; निकाले नहीं गये।

अत: प्रकृति में एक ऐसा भी नियम बना-जो सूक्ष्म क्षेत्र के कर्मों को अनित्य, होने ही न दे। यदि स्थूल क्षेत्र में रहने वाला अज्ञानी 'मैं'; अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सूक्ष्म क्षेत्र में विचरण (Meditation) के लिए समय न निकाले; तो भी प्रकृति के नियमानुसार ऐसे अज्ञानी व्यक्ति थक करके, घोर निद्रा की ओर अग्रसर हों। और निद्रा के समय, ऐसे अज्ञानियों की बुद्धि का नियंत्रण, मन से हट जाय। कम से कम अचेत अवस्था में मन, सूक्ष्म क्षेत्र में प्रकृति की शक्ति के आधार पर विचरण करे। इस तरह से प्रकृति इन कर्मों को नित्य बनाये रखे।

- - - - - - - - - - -

आत्म दर्शन

शिवम्, शान्तम्, अद्वैतम्, चतुर्थम् मन्यते आत्मा।

इस श्लोक के आधार पर आत्म क्षेत्र को परिभाषित करने में दिखाया गया कि

आत्मक्षेत्र में मन के विचरण के अभ्यास से साधक में सूक्ष्मदर्शिता उत्पन्न होने लगती है और यह उत्पन्न सूक्ष्मदर्शिता ही सूक्ष्म क्षेत्र के ज्ञान का आधार है।

स्वयं लेखक ने लगभग 23 वर्ष ऐसा अभ्यास किया। अपनी सूक्ष्मदर्शिता के आधार पर, अपने शब्दों में आत्मा और आत्मक्षेत्र सम्बन्धित ज्ञान को, लेखक इस अंक में व्यक्त करने का प्रयास करेगा।

सभी को यह अनुभव है कि विचारों का क्षेत्र इन्द्रियों से परे है और दो भागों में विभाजित हो जाता है-एक भाग में उठने वाले विचार, हमेशा बुद्धि के नियंत्रण में रहते हैं; लेकिन दूसरे भाग में उठने वाले विचार बुद्धि के नियन्त्रण में नहीं रहते।

सूक्ष्मदर्शिता की कमी में, एक साधारण मनुष्य का यह अनुभव, उसे विचारों के क्षेत्र का सही ज्ञान नहीं देता। समाज के अधिकतर लोग अनियंत्रित क्षेत्र में मन के विचरण को, मनुष्य की कमजोरी मानते रहे हैं। जैसा साधकगण पहले ही देख चुके हैं कि -

मात्र सूक्ष्म से ही स्थूल निकलता है। अर्थात् स्थूल जगत की सारी शक्तियों का इकट्ठापन; सूक्ष्म जगत की शक्ति होती है।

बहुत अच्छी तरह समझने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं।

पेड़ के एक बीज में ही पूरा पेड़ रहता है। जमीन की उपजाऊ शक्ति और बीज; शक्ति और बीज के योग से एक तीसरी शक्ति उत्पन्न होती है-जिसमें उन सारी क्रियाओं के ज्ञान का इकट्ठापन है-जिन क्रियाओं के माध्यम से बीज में से पूरे पेड़ को निकाला जा सकता है। पूर्ण ज्ञान का इकट्ठापन होने के कारण; क्रियाएं होने लगती हैं - की; नहीं जातीं। यह ज्ञान ही पेड़ जगत की सर्वोच्च शक्ति है और सूक्ष्मतर स्तर पर है। इसी प्रकार से सत्य यह है कि -

बुद्धि के अन्तर्गत उठने वाले विचारों के क्षेत्र से ज्यादा सूक्ष्म वह क्षेत्र है-जिसमें बुद्धि का नियन्त्रण, मन पर नहीं होता।

अत: यह क्षेत्र; तो दिव्य शक्तियों का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में समस्त स्थूल क्षेत्र की शक्तियों का इकट्ठापन है। इस क्षेत्र में मन का विचरण; ऐसे ही होता है-जैसे मनुष्य का शरीर-नहाने के लिए नदी में या समुद्र में डुबकी लगाता है। पृथ्वी पर मनुष्य हमेशा हवा के समुद्र में ही रहता है; बिल्कुल इसी प्रकार से अनियन्त्रित विचारों के क्षेत्र में मन का विचरण; समस्त शक्तियों के समुद्र में डुबकी लगाने के समान होता है। पृथ्वी पर हवा के समुद्र में रहने के कारण; हवा का सेवन अपने आप हो जाता है। मात्र नदी या समुद्र में डुबकी लगाने से, मनुष्य के शरीर में कुछ पानी चला जाता है और ऊपरी शरीर भी पानी से भीग जाता है। बिल्कुल इसी प्रकार से-

दिव्य शक्तियों के क्षेत्र में; मात्र मन के विचरण से, मन में दिव्य जगत की सबसे बड़ी शक्ति, परासुख (Bliss) उभरने लगता है और परासुख-मन, बुद्धि और शरीर के पतन को समय बीतने के साथ साथ रोकता है और उनका उत्थान करता है।

विचारों के क्षेत्र में नियन्त्रित क्षेत्र से अनियन्त्रित क्षेत्र में मन का जाना, मन का फिसल जाना है। पृथ्वी पर मनुष्य जब चलता है-तब उसका हर अंग नियन्त्रण में रहता है। लेकिन यदि किसी कारण से पैर फिसल जाता है-तो कोई भी अंग नियन्त्रण में नहीं रहता और; फिसलकर उसका पैर जितनी दूरी तक जाता है-वहां से उसे अपने पैर को उठने के लिए सिकोड़ना पड़ता है। बिल्कुल इसी प्रकार से जब मन, विचारों की दुनियां में फिसलता है-तब ज्यादा से ज्यादा दूर तक चला जाता है। कहने का अर्थ यह है कि वह भावों के क्षेत्र को ही छोड़ देता है। यही वह क्षण है-जब वह भावातीत हो जाता है। कुछ भी अनुभव करने के लिए, भाव का अनुभव होना आवश्यक है। कहने का अर्थ है कि जीवन के सारे अनुभवों की संभावना, मात्र 'भावों के क्षेत्र' में ही है। अत: जिस क्षण, वह भावातीत होता है-उस क्षण वह अनुभव के क्षेत्र को ही छोड़ देता है। इसीलिए ऐसा कोई व्यक्ति, हो ही नहीं सकता-जो नित्य कई बार यह अनुभव न करे कि मन; पता नहीं कब-कहां

से कहां चला गया। मात्र सूक्ष्मदर्शिता की कमी में, वह यह नहीं समझ पा रहा है कि वह कहां चला जाता है।

जब उसे कुछ पता नहीं रहता-उस समय वह निर्गुण निराकार भावों से परे, सारे अनुभवों से परे, आत्मक्षेत्र- या यह कहें कि वह आत्म तत्व के समुद्र में नहाने चला जाता है।

आत्मा क्या है? और कहां है? आत्मक्षेत्र, सृष्टि का सबसे सूक्ष्म क्षेत्र है। लेकिन जिस क्षेत्र में मन भी नहीं जा सकता-उस क्षेत्र का तो अस्तित्व ही नहीं है। पूरे 'विश्व ब्रह्माण्ड' की परिभाषा तो मात्र इतनी होगी कि मन के विचरण के सम्पूर्ण क्षेत्र को विश्व ब्रह्माण्ड कहते हैं। यह 'विश्व ब्रह्माण्ड', सूक्ष्म और स्थूल पर्तों में बंटा हुआ है। 'विश्व ब्रह्माण्ड' के स्थूल क्षेत्र की शक्तियों और क्रियाओं के ज्ञान का इकट्ठापन; सूक्ष्मतम क्षेत्र में है।

यही आत्मा है।

विश्व ब्रह्माण्ड के अनन्त स्थूल लोक; जैसे-चन्द्रलोक, सूर्यलोक, पृथ्वी लोक और अनन्त तारागण द्वारा दर्शाए गए लोकों का आधार, ब्रह्मलोक है।

इस ब्रह्मलोक से सृष्टि की हर चीज जुड़ी हुई है। इस ब्रह्मलोक को परालोक के रूप में, कोई भी मनुष्य महसूस कर सकता है। लेकिन मात्र सूक्ष्मदर्शी व्यक्तियों को, परालोक का ज्ञान भी हो सकता है। लेखक केवल इतना कहना चाहता है कि; ऐसा कोई व्यक्ति, हो ही नहीं सकता-जिसे परालोक, हर क्षण महसूस नहीं हो रहा है। मात्र सूक्ष्मदर्शिता की कमी के कारण-उसे यह लोक समस्त शक्तियों का समुद्र, प्रतीत नहीं हो रहा है। और यही माया है-जिस माया (Illusion) के दलदल में कलियुग के ज्यादा से ज्यादा लोग धंसे हुए हैं – और यही उनके जीवन के छोटे से छोटे दुख का कारण है।

उपरोक्त आत्मक्षेत्र, ब्रह्मलोक का आकाश है।

ब्रह्मलोक का पूरा आकाश-सूर्य की तरह है। पृथ्वी पर आकाश में सूर्य है। लेकिन ब्रह्मलोक का पूरा आकाश ही सूर्य है। यही कारण है कि; सूर्य पृथ्वी के सारे भाग को एक साथ प्रकाशित नहीं कर सकता। लेकिन जितने भाग को एक

साथ प्रकाशित कर देता है-वह सूर्य का क्षेत्र होता है। इस क्षेत्र में सूर्य का प्रकाश और गर्मी को मनुष्य अनुभव करता है। यह प्रकाश और गर्मी, सूर्य तत्व द्वारा निर्मित होते हैं। बिल्कुल इसी प्रकार से, आत्मा का बदलने वाले जगत में भी एक क्षेत्र है- अर्थात् जहां तक मन; जीवात्मा के प्रभाव को महसूस कर सके; वहीं तक जीवात्मा का क्षेत्र माना जाता है।

आत्मक्षेत्र का प्रभाव-मन के फिसलन के गुण के साथ, महसूस होता है। लेखक यह कहना चाहता है कि; जहां से मन में उठते हुए विचार-बुद्धि के नियंत्रण से मुक्त होते हैं-वहीं से जीवात्मा का क्षेत्र शुरू होता है और यह फैलाव, भावातीत तक होता है।

यह आत्मक्षेत्र ही पराक्षेत्र है।

जैसे सूर्य के क्षेत्र में ही सूर्य की शक्ति और सूर्य का प्रकाश विद्यमान रहता है- बिल्कुल उसी प्रकार से आत्मक्षेत्र में आत्मा की शक्ति का घनत्व बहुत अधिक होता है।

यह शक्ति जहां पर भी है-वहां पर मन में उठते हुए विचारों का नियन्त्रण असम्भव है।

ऊपर हमने देखा कि आत्मक्षेत्र दो हैं : एक निर्गुण निराकार क्षेत्र में और; दूसरा बदलने वाले क्षेत्र में। पहले क्षेत्र को आत्मक्षेत्र कहते हैं और दूसरे को पराक्षेत्र कहते हैं। पराक्षेत्र को हर मनुष्य अनुभव तो करता है-लेकिन सूक्ष्मदर्शिता की कमी में वह इस क्षेत्र में मन के विचरण को अपनी कमजोरी मानता है। हर व्यक्ति को एक क्षण अनुभव होता है-जब उसे पता लग ही नहीं सकता कि कब वह बुद्धि के नियन्त्रण से मुक्त हो गया; उसके पश्चात् वह अनियन्त्रित क्षेत्र के विचारों को भी अनुभव करता है। यही पराक्षेत्र का अनुभव है। आत्मक्षेत्र से पराक्षेत्र में विचरण के पश्चात्, जब वह बुद्धि के नियंत्रण के क्षेत्र में आता है- मात्र तब आत्मक्षेत्र और पराक्षेत्र का अनुभव करता है। कारण यह है कि यह अनुभव करने वाला, तो उसका 'मैं' है। साधक पहले ही देख चुके हैं कि 'मैं'; मन और बुद्धि के योग से उत्पन्न होता है।

पराजगत, बुद्धि से परे है।

जब मन पराजगत में विचरण करता है-तब मन और बुद्धि अलग हो जाते हैं।

मन; अपने पर इन्द्रिय जगत के पड़े हुए छापों को लेकर भावातीत क्षेत्र और फिर पराजगत में विचरण करता है-जिससे उसके ज्यादा से ज्यादा छाप मिट सकें।

मन पर पड़े हुए ये छाप ही; उसे माया के दलदल में फंसाते हैं। अत: माया के दलदल से निकलने के लिए उसे लाखों या करोड़ों बार भावातीत होना पड़ता है। इस तरह से हम आसानी से समझ सकते हैं कि; ध्यान के नित्य अभ्यास (Meditation) द्वारा हमारे मन की अवस्था कैसे बदलती है?

'मैं', हमेशा मन और बुद्धि के योग से उत्पन्न होता है।

भावातीत और पराजगत में मन के विचरण द्वारा, मन अपने में बार बार आत्मतत्व को पिरोता है-जिससे इन्द्रिय जगत में विचरण के समय मन पर पड़े हुए ज्यादा से ज्यादा छाप, मिट सकें। क्योंकि ये छाप 'पराजगत के सूर्य' के लिए बादल का काम करते हैं और इसीलिए मन में परासुख (Bliss) उभर नहीं पाता। ज्यों ज्यों छाप मिटते हैं-परासुख उभरता है। इस तरह मन की अवस्था बदलती है और; इस तरह से मन का उत्थान होता है। जब उत्थान के बाद मन, बुद्धि के सम्पर्क में आता है-तब मन में उभरा हुआ परासुख, बुद्धि पर पड़े हुए छाप को भी मिटाता है।

बुद्धि पर पड़े हुए छाप ही, माया में फंसे हुए मनुष्यों की तरह तरह की चिन्ताएं हैं और मन पर पड़े हुए छाप, उसके अन्दर समाए हुए डर हैं।

इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि डर और चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए - मन को भावातीत क्षेत्र में बार बार स्नान करना ही होगा। फिर पराक्षेत्र में विचरण करना ही होगा। धीरे धीरे इस अभ्यास से हमारे मन का उत्थान होगा-अर्थात् मन में समाए हुए डर कम होने लगेंगे।

डर का कारण, हमेशा शक्तिहीनता है।

इसलिए डर के कम होने के साथ-वह अपने मन में 'उभरती हुई ईश्वरीय शक्ति' को महसूस कर सकता है।

मन में समाए डर का चिन्ताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इसलिए डर कम होने लगे और चिन्ता कम न हो-यह तो सम्भव ही नहीं है। इस तरह से अब हम यह देखेंगे कि; साधना के समय हम अपने 'मैं' के अहंकार में बदलाव को किस प्रकार से अनुभव कर सकते हैं? 'मैं' को अहंकार रहित बनाने के लिए - सत्युग में वैदिक शिक्षा समाज में थी। इस शिक्षा के आधार पर, बच्चे बचपन में ही अपने गुरुओं के साथ पराजगत और भावातीत क्षेत्र में मन को विचरण कराने में सिद्ध होने हेतु-लगभग 25 वर्ष की आयु तक माता पिता का घर छोड़कर गुरुओं के साथ रहते थे।

आत्मक्षेत्र; आत्म तत्व का समुद्र है।

आत्मतत्व में सत्-चित्-आनन्द के गुण का इकट्ठापन है। जब आत्मतत्व; मन में पिरोता है-तो चित् उभरता है। अर्थात् चेतना उभरती है। उभरी हुई चेतना को वह अनुभव, केवल तब कर सकता है-जब मन और बुद्धि का योग होता है। अर्थात् हमारा 'मैं' हमें अनुभव होता है। इन्द्रिय क्षेत्र की चेतना स्थूल होती है।

इस स्थूल चेतना में ही; वह अहंकार होता है-जो मनुष्य को दुख पहुंचा सकता है। ध्यान के समय, मन एक चक्र में घूमता है। यह बुद्धि के नियंत्रित क्षेत्र से भावातीत क्षेत्र में जाता है। फिर पराजगत में वापस आता है-अर्थात् अनियन्त्रित विचारों में रहता है। इसके पश्चात् वह अपने 'मैं' के क्षेत्र में आ जाता है। अपने 'मैं' के क्षेत्र में वह कुछ 'सूक्ष्मदर्शी' होकर आता है। इस 'सूक्ष्मदर्शिता' का अनुभव ऐसे होता है कि; वह अनुभव करता है कि उसके अंदर के विचार अधिकतर सूक्ष्म क्षेत्र के विचार हैं। साधक को शांत क्षेत्र और सूक्ष्म क्षेत्र के विचारों का अनुभव तो तब होता है-जब विचार बुद्धि के नियंत्रण में हैं। इसलिए लेखक कह रहा है कि धीरे धीरे साधना के समय मन, अपनी 'सूक्ष्मदर्शिता' को अनुभव करेगा। नए साधक के लिए यह अनुभव बहुत कठिन होगा। लेकिन वर्षों से साधना करने वाले साधक का 'मैं', परासुख भी अनुभव करेगा। मनुष्य, अपने

'मैं' को भी बदलता हुआ देख सकता है। यदि वह साधक है-तब उसे यह भी अनुभव होगा कि यह बदलाव तो साधना के बाद आया। कहने का अर्थ यह है कि; मन को दिव्य क्षेत्र में विचरण कराने वाली साधना से आया। साधना करने से पहले उसे अवश्य विश्वास था कि; वह जीवन के सारे सुख अपनी बुद्धि और कठिन परिश्रम द्वारा पायेगा। यही उसका अहंकार था।

धीरे धीरे उसका अहंकार टूटता है और अहंकार रहित 'मैं' का जन्म होता है। समाज के ज्यादातर लोग समझते हैं कि हमारा 'मैं' ही हमारा अहंकार है। लेकिन लेखक इस लेख द्वारा समझाना चाहता है कि स्वयं 'मैं' दो प्रकार का होता है। इन्द्रिय जगत और बुद्धि के क्षेत्र में विचरण करने वाले व्यक्तियों को यह गलतफहमी हो जाती है कि; जीवन में मनुष्य सब कुछ अपनी बुद्धि और कड़ी मेहनत से प्राप्त कर सकता है। किसी न किसी अंश में, मनुष्य को यह गलतफहमी अवश्य रहती है।

सत्य यह है कि यह विश्व ब्रह्माण्ड एक प्रकार का 'सुख का समुद्र' है। इस विश्व ब्रह्माण्ड में सारे जीव, नाव की तरह होते हैं। अर्थात् जीव को मात्र अखण्ड सुख मिल जाने पर, वह सुखसागर से पार हो जाएगा। पूर्ण सुख तो सबको चाहिए। सुख मात्र वह है-जो मन को प्रसन्न कर सके-या यह कहें कि, सन्तुष्ट कर सके। अहंकार के अंधेरे के कारण मनुष्य अपनी बुद्धि की मदद से इन्द्रिय सुख का साधन प्राप्त करके, इस सुख सागर से पार होना चाहता है।

साधना द्वारा ज्यों ज्यों मन और बुद्धि में बदलाव आता है-इन्द्रिय जगत का 'मैं' 'पराजगत का ज्ञान' पाकर पराजगत के सुख का भोग करने लगता है।

> **इस परिवर्तन के साथ साथ वह धीरे धीरे राम और कृष्ण के 'मैं' की ओर बढ़ने लगता है। दूसरे शब्दों में अहंकाररहित 'मैं' की ओर बढ़ने लगता है।**

परासुख; मन को मात्र सूक्ष्म क्षेत्र में ले जाने का प्रयास करता है। धीरे धीरे अभ्यास से इस आन्तरिक खिंचाव में बाधा की महसूसियत कम होगी और; मनुष्य साधना के समय महसूस करने लगेगा कि अब वह भावातीत या अनियन्त्रित होने

के पहले ही, सूक्ष्म जगत में था। यह स्पष्ट करता है कि; उच्च स्तर के साधक का 'मैं' भी सूक्ष्म जगत में विचरण करने लगता है-जब कि छोटे स्तर के साधक का मन, मात्र स्थूल जगत में विचरण करता है।

ज्यों ज्यों 'मैं' सूक्ष्म जगत में विचरण करने का अभ्यास करने लगता है-'मैं' अहंकार रहित होने लगता है। जिस अनुपात में वह अहंकार रहित हो जाता है-मात्र उसी अनुपात में, उसके जीवन में 'होनी' बढ़ती है और 'करनी' कम होने लगती है। मनुष्य तो केवल उतना ही करता है-जितना वह होने को देख नहीं पा रहा है। यही इस बात को स्पष्ट करता है कि; आज किसी साधक की चाहे जो अवस्था हो-लेकिन कभी न कभी तो वह अवस्था अवश्य आएगी-जब कुछ पाने के लिए करने की बात नहीं होगी; यद्यपि अपने स्वभाव से कुछ देखने सुनने की दुनिया में-अर्थात् इन्द्रिय जगत में तो वह आता ही रहेगा। इसी अवस्था को कहते हैं कि; अब साधक की सारी क्रियाओं में ईश्वर दिखायी पड़ रहा है? उसका मन उस सूक्ष्म क्षेत्र में रहने लगा-अर्थात् उसका 'मैं' इस सूक्ष्म क्षेत्र में रहने लगा कि; उसे अपने चारों तरफ की क्रियाएं दिव्यजगत की शक्तियों द्वारा की जा रही हैं-यह अनुभव होने लगा।

ऊपर हम लोगों ने देखा कि नए साधक भी शिक्षक के बताने पर, मन में नियन्त्रित क्षेत्र और फिसलन के क्षेत्र को अलग अलग अनुभव कर सकते हैं। मात्र साधना में लम्बे अभ्यास के बाद ही वो अपने 'मैं' में बदलाव अनुभव करने योग्य होता है। अतः मन में फिसलन के क्षेत्र की अनुभूति के आधार पर, साधारण से साधारण साधक भी इस बात को समझ सकता है कि कब उसका मन आत्मक्षेत्र में रहता है और; कब बुद्धि के क्षेत्र में रहता है?

साधक दो प्रकार के होंगे-

(1) एक वे जिनका मन आत्मक्षेत्र में, आत्मक्षेत्र की जागृति के साथ विचरण करेगा-उन्हें आत्मक्षेत्र की शक्ति और ज्ञान कम समय में, अधिक मिलेगा।

(2) दूसरे वे; जिनका मन-बिना आत्मक्षेत्र की जागृति के आत्मक्षेत्र में विचरण करेगा। उन्हें लम्बे अभ्यास के बाद भी लाभ कम होगा।

कुछ दिनों के अभ्यास के बाद; ज्यों ज्यों साधक में अपने 'मैं' के उत्थान की जागृति होगी - त्यों त्यों आत्म जागृति के साथ साथ साधना आसान होने लगेगी। केवल ऐसे साधक, ध्यान के समय मन की गहरी शान्त अवस्था-अद्वैत की ओर अग्रसर होने का अनुभव और चतुर्थ चेतना का अनुभव करने योग्य होंगे। इस तरह से हम देखते हैं कि शास्त्रों में मिले हुए श्लोक-

'शिवम् शान्तम् अद्वैतम् चतुर्थम् मन्यते आत्मा'

के आधार पर आत्मक्षेत्र को पहचानने की विधि-जो साधकों को बतायी; उस विधि के आधार पर उच्च स्तर के साधकों के लिए आत्मक्षेत्र की जागृति उत्पन्न करना तो सम्भव होगा, लेकिन इस अंक में बतायी गई आत्मक्षेत्र की परिभाषा के आधार पर नए से नया साधक भी आत्म जागृति के साथ साथ साधना करने में सफल हो जायेगा। उच्च स्तर का साधक, बढ़ती हुई साधना की शान्त अवस्था के साथ साथ सूक्ष्म क्षेत्र में प्रवेश करनेकी अनुभूति में भी बदलाव अनुभव करेगा। यह अनुभूति, उसके 'मैं' की होगी और उसके आधार पर वह आसानी से समझ लेगा कि उसका 'मैं' धीरे धीरे आत्मा के और नजदीक पहुंच कर - भावातीत होने के योग्य हो रहा है। जो, जितने समीप होकर भावातीत होगा-उसे उतना ही स्पष्ट आत्म दर्शन होगा।

- - - - - - - - - - -

जीवन; रस का भण्डार

शिवम्, शान्तम्, अद्वैतम्, चतुर्थम् मन्यते आत्मा।

जीवात्मा और उसके क्षेत्र को एक साधारण से साधारण मनुष्य कैसे पहचाने? आत्मक्षेत्र की जागृति के साथ साथ आत्मक्षेत्र में विचरण करके इन्द्रिय जगत में मन; जब वापस आता है-तब जीवन उन साधकों की तुलना में ज्यादा सुखदायी हो जाता है-जिनका मन आत्मक्षेत्र में विचरण तो करता है; लेकिन जागृति के साथ साथ विचरण नहीं करता। समय बीतने के साथ साथ साधक के अन्दर 'सूक्ष्मदर्शिता' बढ़ने लगती है और यह 'सूक्ष्मदर्शिता' आन्तरिक जगत के सारे ज्ञान का आधार होती है। लेखक ने अपनी सूक्ष्मदर्शिता के आधार पर अपने शब्दों में आत्मा और 'आत्मा के क्षेत्र' को पहचानने की बात बतायी ओर अब वह बताने का प्रयास करेगा कि; पराजगत का आत्मक्षेत्र और आत्मा-जीवन-रस; ही 'कभी न खत्म होने वाले भण्डार' हैं।

इन्द्रिय जगत की अनुभूतियों के आधार पर हमें यह ज्ञान हो जाता है कि यह ब्रह्माण्ड अनन्त लोकों में बंटा है। आकाश के अनन्त तारे, अनन्त-स्थूल-लोक हैं और; मनुष्य पृथ्वी लोक पर है। लेकिन ये सारे लोक तो ब्रह्मलोक से निकले हैं। अतः आवश्यक है कि सारे लोक इस ब्रह्मलोक से जुड़े हों। मनुष्य; पृथ्वी लोक पर रहते हुए-ब्रह्मलोक से जुड़ा हुआ है। कोई भी मनुष्य, साधना द्वारा 'सूक्ष्मदर्शिता' बढ़ाकर अनुभव करने योग्य हो सकता है। लेखक के साथ बहुत दिनों से प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) करने वाले साधकों को ज्ञात है कि इन्द्रियजगत की हर क्रिया-जो उसके द्वारा होती है; उसके अन्दर के भाव से जुड़ी रहती है। 'विश्व ब्रह्माण्ड' की सारी क्रियाएं; किसी न किसी प्राणी के माध्यम से ही होती हैं-चाहे वह प्राणी मनुष्य के रूप में हो, या जानवर के रूप में, या वनस्पति के रूप में हो।

क्रियाओं का विभाजन दो रूप में हो जाता है। करने वाली क्रियाएं और होने वाली क्रियाएं। करने वाली सारी क्रियाएं; किसी न किसी प्राणी की बुद्धि से जुड़ी होती हैं, लेकिन होने वाली सारी क्रियाएं स्वयं प्रकृति, 'होने की शक्ति' के

माध्यम से प्राणियों द्वारा, या वनस्पति द्वारा, या सृष्टि के देवी देवताओं के माध्यम से करा लेती हैं।

एक साधारण मनुष्य, प्राणियों और वनस्पति जगत की बात समझता है-लेकिन देवी देवीताओं की बात नहीं समझता। अत: यहीं पर समझ लेते हैं कि प्रकृति की समस्त बड़ी बड़ी शक्तियों को ही इन्द्रिय जगत के देवता कहते हैं। हमारे शरीर के अन्दर करोड़ों यन्त्र एक साथ काम कर रहे हैं-जैसे मात्र किसी यन्त्र के माध्यम से कोई अपना हाथ उठाने योग्य है, या नीचे करने योग्य है। दूसरे शब्दों में हर तरह की क्रिया, जैसे-देखना, सुनना, छूना इत्यादि आन्तरिक जगत के किसी-न-किसी यन्त्र के द्वारा ही होता है और; ये सारे यन्त्र प्रकृति की शक्तियां ही हैं-यही देवी देवता कहलाते हैं। कुछ यन्त्र हमारी इच्छा के आधार पर अलग अलग समय पर काम करते हैं। लेकिन बहुत से यन्त्र, हर समय क्रियाशील हैं-हम चाहें या न चाहें।

उदाहरण - श्वांस का चलना, दिल का धड़कना, खून का दौड़ना इत्यादि। न मालूम कितनी तरह की क्रियाएं, शरीर के अन्दर होती ही रहती हैं और; ये सारी क्रियाएं देवताओं के माध्यम से होती हैं - ऐसा ही कहना ठीक है। प्रकृति के अन्दर जितनी भी शक्तियां हैं-वे करने की शक्ति के रूप में हों, या होने की शक्ति के रूप में - भावातीत क्षेत्र में स्थित निर्गुण निराकार ब्रह्म या आत्मा से ही निकलती हैं।

> **यह अव्यक्त से व्यक्त, एक रस के रूप में होती है। हर जीवन में व्यक्त शक्तियां, इसी रस की देन हैं। ऐसा एक जीवन रस का भण्डार, हर जीव से जुड़ा है।**

अच्छी तरह समझने के लिए हम अपना ध्यान वनस्पति जगत की ओर ले जांय - तो हम देखेंगे कि; पृथ्वी लोक पर सम्पूर्ण वनस्पति जगत-पृथ्वी पर ही होता है।

पृथ्वी, दो तरह की होती है-बंजर और उपजाऊ।

बंजर जमीन को भी खाद पानी देकर उपजाऊ बनाया जा सकता है। यदि किसी

उपजाऊ जमीन को बिना खाद पानी दिए फसल उगाते ही रहें-तो वह बंजर हो जाती है। उपजाऊ जमीन में जब एक बीज डालते हैं-तो पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति और बीज के योग से, एक तीसरी शक्ति पैदा होती है-यह शक्ति पेड़ का रस (Sap) होता है।

पेड़ पहले से ही; बीज में है।

बीज में से पेड़ को निकालने के लिए; उन समस्त क्रियाओं के ज्ञान की आवश्यकता है-जो बीज में से पेड़ को बाहर निकालने में सक्षम हैं। इन क्रियाओं के समस्त ज्ञान का इकट्ठापन, ऊपर बताए हुए पेड़ के जीवन रस (Sap) में है। बिना क्रिया के ज्ञान के; क्रिया असम्भव है। जिसके द्वारा क्रिया होनी है-यदि उसमें क्रियाओं का ज्ञान पूर्ण नहीं है-तो क्रिया मात्र करने से होती है। लेकिन जिस प्रकार से; यदि एक गिलास में पानी डालें और गिलास पानी से भर जाए-तो पानी अपने आप गिलास के बाहर आता है-लाया नहीं जाता। उसी प्रकार से क्रिया जिस प्राणी या वनस्पति या देवी देवता के माध्यम से होती है; यदि वह क्रियाओं के ज्ञान से पूर्ण है-तो उसके द्वारा क्रिया अपने आप होने लगेगी। वह क्रिया करेगा नहीं-अर्थात्

पूर्ण ज्ञान के स्तर पर; क्रिया का ज्ञान और क्रिया-एक साथ हो जाती हैं।

ऊपर हमने देखा कि; पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति और बीज के योग से, जो रस उत्पन्न होता है-उस रस में उन समस्त क्रियाओं का ज्ञान है-जिनके द्वारा बीज से पेड़ निकाला जा सकता है। इसीलिए बीज अंकुरित होकर; जड़ का रूप धारण करती है। इन जड़ों के माध्यम से यह रस; वृक्ष सम्बन्धित - अलग अलग क्रियाएं करने लगता है। ये क्रियाएं; स्वयं इन्द्रियां महसूस करती हैं। धीरे धीरे वृक्ष बड़ा होता है और; जब तक वृक्ष में फल और; फल के अन्दर बीज नहीं आ जाता-वह बड़ा ही होता चला जाता है। फल में वही बीज है, जिस बीज से वृक्ष निकला।

एक बीज से अनेक बीजों का जन्म हुआ।

प्रकृति का ही दूसरा नाम अनन्त है।

यह अनन्त अपने में पूर्ण होता है और इसका गुण होता है कि; पूर्ण से पूर्ण निकले और; फिर भी वह अपने में पूर्ण ही रहे।

मात्र इसी गुण के कारण निर्गुण निराकार क्षेत्र से अनन्त सगुण क्षेत्र का निकलना संभव हुआ।

वृक्ष का ज्ञान एक साधारण मनुष्य को भी है। इसीलिए उसके माध्यम से लेखक ने प्रकृति का एक नियम बताने और समझाने का प्रयास किया। विश्व ब्रह्माण्ड तो अनन्त लोकों में बंटा है और; हर लोक में एक पृथ्वी और एक आकाश अवश्य है। हर लोक की पृथ्वी का गुण ऐसा ही होगा-जैसा ऊपर समझाया गया है। यह भी देखा कि सब कुछ ब्रह्मलोक से ही निकला। ब्रह्मलोक; सूक्ष्मतम लोक होने के कारण-हर प्राणी के अन्दर है।

हर लोक के वृक्षों के गुण भी; अलग अलग ही होंगे।

ब्रह्मलोक के वृक्ष ही; प्राणी कहलाते हैं। प्राणी के पास शरीर और मन हैं। मन में चेतना है। यदि कोई भी मनुष्य अपनी हथेली के पिछले भाग को देखे-तो वह अपने नेत्रों से कुछ नसों को देखता है। यह दिखायी पड़ता है कि; इन नसों की बनावट बिल्कुल पृथ्वी लोक के पेड़ की जड़ों की तरह ही है। आज का विज्ञान हमें यह भी बताता है कि; ये नसें, अंग अंग में फैली हैं। इनसे और सूक्ष्म, इन्द्रिय से परे के क्षेत्र में भी ये जड़े हैं। सूक्ष्मतम नसों को स्नायु संस्थान (Nervous System) कहते हैं। स्नायु संस्थान; पेड़ रूपी शरीर की जड़ें हैं। इन नसों को एक रस चाहिए। मात्र उस रस में शक्ति है कि; शरीर में स्थापित अनन्त यंत्रों को सक्रिय रख सके।

हम एक मोटरकार खरीद सकते हैं, लेकिन उसके चलने के लिए पेट्रोल अति आवश्यक है। इसी प्रकार से प्रकृति ने शरीर में अनन्त यंत्र स्थापित कर दिए; लेकिन इन यंत्रों को चलाने वाला तो एक जीवन रस होगा। यह जीवन रस अखण्ड की शक्ति है। इसलिए यह जीवन रस शरीर को अखण्ड स्वास्थ्य प्रदान करने में सक्षम है। **हर शरीर, मन से जुड़ा हुआ है।** मन; प्रकृति का एक जड़ होता है। यह जड़; जीवन रस के माध्यम से क्रियाशील होती है।

यह रस; सच्चिदानन्द स्वरूप है।

इसका अर्थ यह निकला कि; चेतना का अस्तित्व प्रदान करने वाला सत् और; मन

के सुख की भूख मिटाने वाला-आनन्द; दोनों हमेशा ही चेतना के साथ हैं। इन तीनों गुणों वाला रस; जीवन प्रदान करने वाला रस है। प्रश्न उठता है कि; जीवन किसे प्रदान करना है?

पृथ्वी लोक का उदाहरण देते समय हमने देखा कि जमीन की उपजाऊ शक्ति और बीज के योग में, उस वृक्ष का रस है-जिसे बीज में से पेड़ निकालना है।

बिल्कुल इसी प्रकार से मन; ब्रह्मलोक की जमीन के रूप में रहता है। मन की इच्छाएं; इस पृथ्वी के बीज के रूप में हमेशा रहती हैं। जब मन को सच्चिदानन्द जीवन रस मिलता है-तब इस रस का योग, इच्छाओं से हो जाता है।

जिस प्रकार से बीज में पूरा पेड़ा होता है-उसी प्रकार से इच्छाओं में इच्छा पूर्ति सम्बन्धी सारी परिस्थितियां, पहले से रहती हैं।

ज्यों ज्यों मन को जीवन रस मिलता है-मन की शक्ति और मन की इच्छाओं के योग में वेद है। वेद का अर्थ है-पूर्ण ज्ञान। इसमें इच्छाओं को पूरा करने से सम्बन्धित सारी परिस्थितियों को उत्पन्न करने वाली क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान होता है। हम ऊपर पहले ही देख चुके हैं कि जहां पर ज्ञान पूर्ण होता है-क्रियायें भी स्वयं पूर्ण होने लगती हैं। दूसरे शब्दों में

वेद; 'होने की शक्ति' के माध्यम से जीवन में ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करते हैं-जिन परिस्थितियों में इच्छाओं की पूर्ति की क्षमता है।

पृथ्वी पर हम यह भी देखते हैं कि; जिस दिन बीज बोते हैं-फल उसी दिन नहीं निकलता-समय आने पर ही निकलता है। बिल्कुल इसी तरह से, जिस दिन से रस और इच्छाओं का योग होता है-उस दिन से समय बीतने के साथ साथ निरन्तर योग शक्ति; क्रियाशील रहती है। और मात्र समय आने पर अलग अलग इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है। ऐसे जीवन रस का भण्डार, जीवात्मा है-जो हर मनुष्य के जीवन से जुड़ा है और;

मात्र मनुष्य इतना भाग्यशाली है कि स्वेच्छा से वह कर्म करने में

सक्षम है-जिस कर्म के माध्यम से वह जितना जीवन रस चाहे-ले सके और मात्र जीवन रस के आधार पर जीवन में सब कुछ प्राप्त कर सके।

हम समाज के अधिकतर लोगों का जीवन देखकर; समझ सकते हैं कि पिछले, न मालूम कितने जन्मों के कर्मों के आधार पर-हर मनुष्य के मन में पहले से अनन्त इच्छाएं हैं। मन को केवल जीवन रस की आवश्यकता है। यह जीवन रस का एक गुण; सत् है। इसी कारण इस सत् का ज्ञान; सत्युग के हर मनुष्य को था। समाज में इस ज्ञान का उपयोग भी था। दूसरे शब्दों में इस ज्ञान के उपयोग की शिक्षा, समाज में थी।

ऊपर हमने देखा कि वेद कहां पर है? और वेद क्या है?

वेद, जीवन रस और इच्छाओं के योग में है। वेद सम्पूर्ण ज्ञान है। वह ज्ञान, जो अव्यक्त शक्ति को इच्छाओं की पूर्ति के लिए व्यक्त कर सके। इसलिए समझना कितना आसान है कि; इस ज्ञान की शिक्षा का नाम तो वैदिक शिक्षा होना चाहिए। अर्थात् वैदिक शिक्षा का अर्थ यह है कि;

वह शिक्षा-जिसके माध्यम से समाज का हर मनुष्य, अपने आत्मक्षेत्र से अपने आत्मक्षेत्र की शक्ति को, शरीर को स्वस्थ रखने वाले रस के रूप में प्रदान कर सके; बुद्धि को तनाव रहित रखने वाले रस के रूप में प्रदान कर सके और मन को हर तरह के डर से मुक्त करने वाली शक्ति प्रदान करने वाले रस के रूप में - स्वयं मन, अपने में पिरो सके-जिससे कि उसमें अखण्ड प्रेम उत्पन्न हो सके।

इतनी श्रेष्ठ स्तर की वैदिक शिक्षा; सत्युग में थी। उस युग के बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा-जैसे राजा दशरथ अपने बच्चों को बचपन में ही अपने गुरुओं के पास जीवन रस प्राप्त करने में सिद्ध होने हेतु-अपने घर का सारा सुख छोड़कर, गुरुओं के साथ जाने के लिए बाध्य करते थे। जिससे 25 वर्ष की आयु तक-वे अनन्त क्षेत्र में और अनन्त स्तर तक, अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने में सक्षम हो सकें। इसके बाद ही वे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते थे।

एक मनुष्य को साइकिल सीखना हो-तो सिखाया जा सकता है। लेकिन सीखने वाला कितना अभ्यास कर सकता है-यह अलग अलग सीखने वाले पर भी निर्भर करेगा। भीड़ में साइकिल चलाने योग्य तो अधिकतर सीखने वाले हो जाते हैं। लेकिन इतना सिद्ध कोई ही होता है कि; वह साइकिल पर ही भोजन करे या अपनी निद्रा पूरी करे; या मौत के कुएं में साइकिल चलाए। बिल्कुल इसी प्रकार से, साधकगण को यह याद रखना चाहिए कि शिक्षक का काम तो मात्र शिक्षा देना है।

सिद्ध होना; उसकी अपनी क्षमता पर ही निर्भर करेगा।

पुराणों में भी अनन्त उदाहरण मिलते हैं। द्रोणाचार्य के शिष्य बहुत थे। यह तो अर्जुन की बात थी कि; उसने द्रोणाचार्य के सारे ज्ञान को ग्रहण कर लिया।

यदि हम कलियुग का उदाहरण चाहें-तो परमहंस के सम्पर्क में विवेकानन्द के अलावा कोई नहीं आया-यह बात गलत है। लेकिन शायद परमहंस से सब कुछ ले लेने का जो दृढ़ संकल्प विवेकानन्द में था-वह किसी और में नहीं था।

हमने देखा कि आत्मतत्व; पृथ्वी रूपी मन का रस है।

जहां मन है-वहीं प्राण हैं और वहीं जीवन है।

शरीर में से मन के हटते ही; जीवन समाप्त हो जाता है।

इसीलिए इस आत्म तत्व को जीवन रस कहा गया है।

इस जीवन रस में जीवन की समस्त सम्भावित इच्छाओं को पूरा करने वाली क्रियाओं के 'ज्ञान का इकट्ठापन' है। इसीलिए कहते हैं कि;

आत्मा तो सब कुछ दे देने में सक्षम है।

कौन कितना सिद्ध हो सकता है? यह व्यक्तिगत बात है।

विशेष व्यक्ति अपने आत्मक्षेत्र से कितना रस ले सकता है?

कहां तक अपने शरीर को रोगों से मुक्त रख करके, बुद्धि को तनाव रहित रख करके और मन को डर रहित रख करके अपनी इच्छाओं की पूर्ति की ओर अग्रसर हो सकता है-यह उसकी अपनी बात होगी।

कलियुग में भी शंकराचार्य, परमहंस, विवेकानन्द, गौतमबुद्ध और शिरड़ी के सांई बाबा–ऐसे व्यक्ति हुए, जिन्हें इतिहास कभी भुला नहीं पाएगा।

एक साधारण साधक इतने ऊपर की बात-भले ही न सोचे; लेकिन वह जहां पर भी है-वहां से निरंतर अपने को उठाने की बात तो सोच ही सकता है।

– – – – – – – – – – –

जीवन रस और शारीरिक चक्र

शिवम्, शान्तम्, अद्वैतम्, चतुर्थम् मन्यते आत्मा।

आत्मा एक जीवन रस का भण्डार है।

जीवन ब्रह्मलोक का पेड़ है, मन ब्रह्मलोक की जमीन है।

यह जमीन पराजगत में है।

भावातीत क्षेत्र, ब्रह्मलोक का आकाश है।

यह पूरा आकाश, आन्तरिक सूर्य के रूप में है।

इसका प्रभाव भावों के क्षेत्र में जहां तक है–वहां तक; मन के फिसलन के तत्व का भण्डार है। मन के फिसलन का तत्व ही; आत्म तत्व है। इसे मन में पिरोने हेतु ही; वह परा जगत में विचरण करता है। इच्छाएं; मन में पहले से (पिछले कर्मों के आधार पर), रहती हैं। जिस अनुपात में मन अपने में आत्मतत्व पिरोने में सफल हो जाता है–उसी अनुपात में इच्छा पूर्ति सम्बन्धित परिस्थितियां, अपने आप जीवन में बन जाती हैं। मन; स्नायु संस्थान के स्तर पर शरीर से जुड़ा हुआ है। स्नायु संस्थान; शरीर की जड़ है। अत: मन; स्नायु संस्थान के स्तर पर शरीर को जीवन रस प्रदान करता है। शरीर; आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर–उन्नीस पर्तों में बंटा है। हर पर्त में स्थित शरीर के हर कण और हर यंत्र को जीवन रस चाहिए।

समाज में बहुधा ऐसा देखा जाता है कि; एक पेड़ की एक डाल पर जाला लग जाता है, लेकिन दूसरी डाल में ऐसा नहीं होता। यह प्रमाणित करता है कि पेड़ की उस विशेष डाल को पेड़ का जीवन रस प्राप्त नहीं हो रहा है। बिल्कुल इसी प्रकार से –

शरीर के कुछ विशेष अंगों में कुछ समस्यायें हो जाती हैं।

इससे भी यह प्रमाणित होता है कि शरीर के उन अंगों को जीवन रस नहीं मिल रहा है–या; यह कहें कि उन अंगों को क्रियाशील रखने वाले शरीर के प्राकृतिक यंत्रों को वह रस नहीं मिल रहा है। सत्य यह है कि शरीर के हर अंग में रस जाने के

लिए सात दरवाजे होते हैं। ये शरीर के चक्र कहलाते हैं। समाज के अन्दर शरीर के इन चक्रों को खोलने से सम्बन्धित, विशेष चक्रों पर ध्यान की साधना भी जानी जाती है। चक्रों पर ध्यान की मदद से चक्रों को खोलें या लेखक द्वारा बताए हुए-

मात्र प्रयासहीनता के अभ्यास (Meditation) द्वारा शरीर के हर अंग में रस भेजने में सफल हों,

ध्येय दोनों बातों का एक ही है। केवल रास्ते दो हैं। शरीर सूक्ष्म और स्थूल पर्तों में बंटा हुआ है और हमारी ऊपर की त्वचा उन्नीसवीं पर्त है। हम सब अच्छी तरह से जानते हैं कि हमारे पूरे शरीर में अलग अलग सूक्ष्म स्तरों पर नसें फैली हुई हैं।

मस्तिष्क, शरीर के हर अंग से इन्हीं सूक्ष्म नसों द्वारा जुड़ा है।

कहने का अर्थ है कि इन्हीं नसों के माध्यम से वह शरीर के कण कण को क्रियाशील रखने में समर्थ है।

मस्तिष्क की सभी नसों में जीवन रस का प्रवाह प्रयासहीनता के वर्षों अभ्यास के बाद होने लगेगा-तो निश्चित रूप से जीवन रस की इन सूक्ष्म नसों में जो प्रवाह है-उसकी अनुभूति भी उसे होगी।

इन प्रवाहों में कभी कभी कुछ रुकावटें भी वह अनुभव करेगा और उसे कभी ऐसा भी लगेगा कि; यदि वह अपनी गर्दन या मस्तिष्क की मुद्रा में कुछ परिवर्तन लाए-तो उसे कुछ ज्यादा सुख प्रतीत होगा। ऐसा सिर्फ इसलिए होता है; क्योंकि मुद्राओं के क्षणिक परिवर्तन से जीवन रस के प्रवाह की स्थिति भी परिवर्तित होगी। जब साधक ने साधना शुरू की-तब इस तरह की अनुभूतियां नहीं थीं। यदि कुछ वर्षों के बाद ऐसी अनुभूतियां होने लगती हैं-तो यह स्पष्ट प्रमाण है कि; अब उसके मस्तिष्क के चक्र खुलने लग गए। चक्र खुलने का अहसास तो केवल यह बताता है कि; जीवन रस के प्रवाह में जो रुकावट थी-वह धीरे धीरे हट रही है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि चक्र तो एक तरह के यंत्र हैं।

मात्र वर्षों से जीवन रस की प्राप्ति न होने के कारण, उन यंत्रों में जंग लग गयी और इसीलिए वे सब बन्द हो गए। बाहर के समाज में एक साधारण से साधारण मनुष्य

भी यह अनुभव करता है कि; यदि मनुष्य द्वारा बनाया हुआ कोई यंत्र भी बहुत दिनों तक काम में नहीं लाया जाता है-तो वह भी ठीक काम नहीं करता है।

''जीवन क्या है?'' भाग-4 के कवर पर इसी दृष्टि से सातों चक्र दिखाए गए हैं। इस कवर को देखते ही कुछ साधकों के मन में चक्र खोलने की प्रचलित साधना सम्बन्धी बातें, अपने आप आने लगती हैं और; ऐसा स्वाभाविक भी है। लेकिन पुस्तक के इस कवर द्वारा लेखक तो मात्र इतना बताना चाहता है कि; साधारण मनुष्य के शरीर के ये सात दरवाजे अधिकतर बन्द रहते हैं। समाज में ध्यान की शिक्षा, एक प्रतिशत लोगों के पास भी नहीं है। इसे खोलने के लिये चक्रों पर एकाग्र करने की विद्या बहुत आवश्यक नहीं है।

यहां पर हम ध्यान की कुछ मुख्य बातें बता दें।

ध्यान का अर्थ है-ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और बुद्धि द्वारा बने हुए जगत को छोड़ कर-अर्थात् मेहनत के कर्म वाले क्षेत्र को छोड़कर प्रयासहीन क्षेत्र - अर्थात् जिस क्षेत्र में प्रयास असम्भव है-मन विचरण करे। यह एक साधारण मनुष्य की अनुभूति है कि; मात्र बुद्धि के क्षेत्र में उसका 'मैं' क्रियाशील है।

इस से स्पष्ट है कि मन; 'मैं' रहित क्षेत्र में विचरण करे।

इस क्षेत्र में मन का विचरण ही; जीवन रस को अपने में पिरोने का कर्म है। इस कर्म के अभ्यास के बाद जब वह 'मैं' के क्षेत्र में वापस आएगा-तब स्नायु संस्थान को जीवन रस प्रदान करेगा। साधकगण पहले से ही जानते हैं कि; 'मैं' की उत्पति इन्द्रियजगत की बुद्धि और मन के योग से होती है। मन; बार बार अपने में जीवन रस पिरोकर इन्द्रिय जगत में वापस आता है।

इस तरह से मन, अपनी अवस्था को उच्च स्तर का बनाता है।

इसके बाद वह मन-बुद्धि को पराजगत का रस प्रदान करता है, जिससे बुद्धि की अवस्था भी उठती है। इस तरह से 'मैं' की अवस्था उठती है। बौद्धिक स्तर का यह तर्क मनुष्य के अनुभव के स्तर पर होना चाहिए। वर्षों से साधना करने वाले साधक, इसे इस प्रकार से अनुभव कर सकते हैं-जब वह प्रयासहीनता के अभ्यास (Meditation) पर बैठेंगे-उनका मन, एक चक्र में विचरण करेगा। उसे पता ही

नहीं चलेगा कि; उसका मन, कब फिसल गया? पता न चलना–इस बात का प्रमाण है कि वह फिसल कर भावातीत हो गया। दूसरी अनुभूति यह होगी कि; पता नहीं कितनी देर से वह किन किन विचारों में घूम रहा था।

यह पराजगत में, मन का विचरण है।

पता तो केवल तब लगता है–जब वह बुद्धि के अन्तर्गत विचारों में वापिस आता है। यही इन्द्रिय जगत और पराजगत का बार्डर है। इसके बाद मन फिर दूसरे चक्र में और फिर, तीसरे चक्र में जाएगा। यदि 'मैं' को अनुभव होने लगे कि; तुलनात्मक दृष्टि से 'मैं' का विचरण (जब विचार, बुद्धि के नियंत्रण में हो); कुछ सूक्ष्म क्षेत्र में हो गया –या यह कहें कि कुछ शान्त क्षेत्र में हो गया–तो साधक को समझ लेना चाहिए कि अब उसका 'मैं' अपना उत्थान करके, बुद्धि के अन्तर्गत आने की अवस्था में हो गया है। अभ्यास के साथ साथ उसका 'मैं' इन्द्रिय जगत में भी, पराजगत की बुद्धि पिरोकर रहना सीख लेगा। उठे हुए साधक की यही पहचान है।

ऊपर हमने 'मैं' की अवस्था में बदलाव देखा। लेकिन यह बदलाव शरीर के बदलाव के साथ ही होता है। कहने का अर्थ यह है कि; ज्यों ज्यों रस (Sap) शरीर के हर अंग में पहुंचने लगता है–यह रस शरीर में उस लोच को वापस लाता है–जो लोच बचपन में सबके पास होती है। मात्र आयु बढ़ने के साथ साथ शरीर के कण कण को रस न मिलने के कारण, लोच कम होने लगता है। दुबारा रस मिलने के कारण, फिर से लोच आने लगती है। लोच का खत्म होना–चक्रों के ज्यादा जकड़ कर बन्द हो जाने में मदद करता है। लोच वापस आने के साथ साथ धीरे धीरे चक्र खुलने लगते हैं।

अब साधकगण ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे कि; असलियत में ये चक्र जीवन रस प्रवाहित करने के दरवाजे हैं। रस के प्रवाह – अर्थात् चक्रों के खुलने के साथ साथ एक विशेष अनुभूति होती है। वह यह कि; मात्र लोच का बढ़ना ही बहुत सुखदायी है।

यह अनुभूति; तब होती है–जब 'मैं' अपने स्वभाव से सूक्ष्म जगत में

प्रवेश करने लगता है।

यह स्वाभाविक ध्यान है। ध्यान का अर्थ, मात्र पराजगत में विचरण है। मन; इन्द्रिय जगत से पराजगत की ओर जा रहा है – अर्थात् 'मैं' शारीरिक स्तर पर कुछ रुकावट महसूस करता है। उस रुकावट को हटाने के लिए शारीरिक स्तर पर कुछ स्वाभाविक प्रयास होने लगते हैं। ये प्रयास रुकावट की अनुभूति के कारण हैं और रुकावट को हटाना, सुखदायी है। कहने का अर्थ यह हुआ कि;

इस क्रिया में कोई प्रयास नहीं है। बल्कि इस क्रिया को रोकने में ही प्रयास है।

इसीलिए लेखक का कहना है कि; यह तो प्रयासहीनता का भाग है। ऐसा, शरीर की अलग अलग पर्तों में रस के प्रवाह के समय होगा। इस तरह से जीवन में आनन्द (Bliss), अर्थात् छठा सुख–शारीरिक स्तर पर भी साधक इसे महसूस कर सकता है। यह दूसरी बात है कि; ऐसा वर्षों साधना करने वाले साधकों के साथ ही होगा।

पृथ्वी पर पेड़ हमेशा ऊपर होता है, लेकिन पेड़ के रस का भण्डार (जड़) पृथ्वी के नीचे होता है। यदि किसी को किसी चीज का निर्माण करना है–तो जिन तत्वों के माध्यम से वह निर्माण करना होता है–वह उन तत्वों को जुटाता है। अब जरा पेड़ के जीवन की ओर अपना ध्यान ले जाएं–पेड़ के अंग अंग के निर्माण के लिए प्रकृति के पास; मात्र पेड़ का जीवन रस है।

अतः यह स्पष्ट है कि केवल जीवन रस की तरंगों और स्पन्दनों द्वारा ही; पेड़ के अंग अंग का निर्माण हुआ है।

बिल्कुल इसी प्रकार से; जब एक महिला गर्भ धारण करती है–अर्थात् जीव ने शरीर धारण करना शुरू किया–उस समय शरीर धारण करने के लिए–केवल जीव में चेतना के स्पन्दन होते हैं। ऐसा लेखक इसलिए कहता है–क्योंकि जिस समय गर्भ धारण होता है–उस समय स्वयं महिला के लिए गर्भ धारण करने का अनुभव असम्भव है। समय बीतने के साथ साथ जीव में चेतना का उभार होता है। इस उभार की तरंगों के स्पन्दन से धीरे धीरे महिला को गर्भ की अनुभूति होती है। इसी

आधार पर लेखक कहता है कि; शरीर धारण करने के लिए-उस समय जीव के पास मात्र चेतना के स्पन्दन होते हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि; मनुष्य का शरीर और उसमें स्थापित अनन्त यन्त्र-जिन्हें हम देवी देवता कहते हैं, दूसरे शब्दों में शरीर में स्थित अनन्त देवी देवताओं की उत्पत्ति भी; चेतना के स्पन्दनों से ही होती है। इस चेतना की उत्पत्ति, मात्र जीवन रस से होगी।

क्योंकि जीवन रस सच्चिदानन्द है।

स्वयं आत्मा, निर्गुण निराकार है। निर्गुण निराकार का अर्थ है कि; वह कुछ नहीं है। रसायन शास्त्र का नियम यह है कि; जब एक से ज्यादा चीजें रासायनिक प्रक्रिया द्वारा ऐसे मिलती हैं कि हर वस्तु अपना गुण खो दे-तो कोई नई चीज मिलती है-जिसमें पुरानी चीजों का कोई गुण न हो।

उदाहरण के लिए; जब हाइड्रोजन और ऑक्सीजन में रासायनिक क्रिया होती है-तब पानी बनता है। पानी में वही हाइड्रोजन और ऑक्सीजन निकल सकते हैं; लेकिन जब तक वह पानी है-उसमें ऑक्सीजन या हाइड्रोजन का कोई गुण मिलना सम्भव नहीं है। दो तत्वों से मिलकर जब तीसरी वस्तु का निर्माण रासायनिक क्रिया द्वारा हुआ-तो उसे यौगिक कहते हैं। लेखक, साधकों को यह समझाना चाहता है कि; जब विश्व ब्रह्माण्ड के सारे तत्व की सन्धि भावातीत क्षेत्र में होती है-तब एक यौगिक उत्पन्न होता है-जिसमें कोई गुण और आकार नहीं होता।

निर्गुण निराकार को ब्रह्म कहते हैं।

यही कारण है कि इस ब्रह्म से, हर चीज निकलने की सम्भावना रहती है। ऊपर हम पहले ही देख चुके हैं कि; यह ब्रह्म की शक्ति ही-जीवन रस है। सच्चिदानन्द गुण तो मन में पिरोने पर है, अन्यथा उसमें अनन्त गुण पिरोये हुए हैं।

यह प्रमाणित है कि; सत्-चित्-आनन्द में ही अनन्त गुण हैं।

यदि इन तीन में अनन्त हैं-तो निश्चित् रूप से एक में भी 'अनन्त' है। इसी कारण चेतना के स्पन्दन; शरीर और शरीर के अन्दर स्थापित-अनन्त यन्त्रों को उत्पन्न करने में समर्थ है। इसे तो मात्र उत्पन्न करने वाली क्रियाओं के ज्ञान की आवश्यकता है।

ऐसे पूर्ण ज्ञान को ही वेद कहते हैं।

अत: पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होने की सम्भावना तो केवल वहीं है-जहां पर स्वयं ब्रह्म है। अर्थात् कुछ भी नहीं है। कोई भी आकार नहीं है। कोई भी गुण नहीं है।

हम ऊपर पहले ही देख चुके हैं कि गर्भ धारण में किसी भी गुण या आकार की अनुभूति, महिला को असंभव है। इस तरह से यह स्पष्ट है कि गर्भ में; शरीर धारण करने के पहले बिल्कुल वही परिस्थितियां हैं-जहां से सारे ज्ञान की सम्भावना है। इस पूर्ण ज्ञान को; मात्र चेतना के स्पन्दनों के माध्यम से शरीर का अंग अंग बनाना है। इसीलिए ऐसा संभव होता है।

समाज का हर प्राणी, प्रकृति के इस नियम को जानता है कि मात्र बनाने वाला ही; उसके खराब हो जाने के बाद-उसे पूर्ण रूप से नया करने में समर्थ है। बनाने वाले का अर्थ है-बनाने वाले की शक्ति। ऊपर हमने अच्छी तरह देखा कि; सब कुछ बनाने वाला 'जीवन रस' है। जीवन रस, अपनी चेतना के स्पन्दन से ही सारे निर्माण करता है। अत: मनुष्य यदि चेतना को अपने मन में उभार कर; शरीर के सारे दरवाजों को खोलकर-शरीर के अंग अंग में चेतना को प्रवाहित करने की कला में पूर्ण रूप से निपुण हो गया-तो उसके जीवन में पूर्णत: चेतना लहरानी ही पड़ेगी।

- - - - - - - - - - -

आत्म जागृति

शिवम्, शान्तम्, अद्वैतम्, चतुर्थम् मन्यते आत्मा।

आत्मक्षेत्र की अनुभूति, एक साधारण से साधारण साधक, मन के फिसलन के तत्व के ज्ञान द्वारा कर सकता है। उच्च स्तर के साधक का 'मैं', आत्मक्षेत्र की अनुभूति और बारीक दृष्टि से मन की शांत से शांत अवस्था के साथ 'अद्वैत के क्षेत्र' में प्रवेश करते हुए 'चतुर्थ चेतना' के रूप में प्रगट कर सकता है। यदि साधक का मन या 'मैं'; आत्मक्षेत्र की जागृति के साथ विचरण करेगा-तो निश्चित रूप से आत्मज्ञान; उन साधकों की तुलना में जल्दी होगा-जिनका मन या 'मैं' आत्मक्षेत्र में बिना आत्मक्षेत्र की जागृति के साथ, विचरण करता है।

जागृति; केवल जागते समय बढ़ायी जा सकती है।

जिस व्यक्ति की जागृति बढ़ने के मार्ग पर नहीं है-उस व्यक्ति की जागृति समय बीतने के साथ साथ कम अवश्य होगी। विश्व ब्रह्माण्ड का समस्त ज्ञान; मात्र मनुष्य की जागृति में है। जिस स्तर की जागृति होती है-उसी स्तर का ज्ञान होता है। यदि मनुष्य के पास कोई शक्ति है और; उस शक्ति का ज्ञान नहीं है-तो शक्ति के ज्ञान की कमी में, यह निश्चित है कि मनुष्य शक्ति को खोएगा। शक्ति बढ़ाने के लिए; शक्ति के साथ साथ शक्ति का ज्ञान भी आवश्यक है। इस सत्य को अनुभव करने के लिए, हम बालक के जीवन की ओर ध्यान दें-तो हम देखते हैं कि; बालक में इच्छा शक्ति के रूप में अपार आत्मशक्ति होती है।

इसी कारण समाज में बालक, भगवानस्वरूप कहे गए हैं।

लेकिन इन बालकों को अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं होता। दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि; प्रकृति ज्ञान के साथ जन्म नहीं देती। मात्र सत्युग में; बाल अवस्था से ही इन्हें इस ज्ञान की प्राप्ति की शिक्षा मिल पाती है। प्रकृति; शायद ज्ञान के साथ जन्म इसलिए नहीं देती-जिससे अलग अलग युगों में बाल अवस्था की शक्ति सम्बन्धित ज्ञान की शिक्षा के आधार पर ही युग बदल सकें। शायद यही युग के चक्र का कारण है।

घोर कलियुग में सत् की शिक्षा-जिसे वैदिक शिक्षा कहते हैं; का समाज से लोप हो जाता है।

कहने का अर्थ यह है कि; अधिकतर लोगों को यह शिक्षा नहीं प्राप्त हो पाती। पूर्णरूप से तो यह शिक्षा किसी भी युग में लोप नहीं होती। युगों का चक्र हमें यह भी बताता है कि; घोर कलियुग के पश्चात् ही-सत्युग का उदय होता है-अर्थात् कलियुग में ही; इस विद्या की शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन, समाज में आरम्भ हो चुका है।

प्रत्येक बालक, इस इच्छा शक्ति से भरपूर होता है।

आज के समाज की ओर हम देखें-तो आयु बढ़ने के साथ साथ मनुष्य के जीवन में दु:ख बढ़ते ही चले जाते हैं और बुढ़ापे में तो इतना दु:ख रहता है कि बुढ़ापा आने के पहले ही उसके दु:ख से बचने की सतर्कता लाने लगते हैं। आज के समाज की यह अनुभूति, उपरोक्त बताए हुए सत्य की पुष्टि करता है।

वर्ष 1985 से लेखक ने इस विद्या का प्रसार साधकों के बीच किया। अपने विचारों और ज्ञान को; ध्यान पत्रिका के माध्यम से 1990 से लाना शुरू किया। ई० 2000 में जनवरी से आत्मा और आत्मक्षेत्र की अनुभूति सम्बन्धित बातें, साधकों को बताने के बाद, इस लेख में आत्मक्षेत्र की जागृति को समझाने का प्रयास इस परामर्श के साथ कर रहा है कि; प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) करते हुए साधक का मन या उसका 'मैं'; पराक्षेत्र में पराक्षेत्र की जागृति के साथ हो जाय-तो साधक में आत्मज्ञान अधिक आसानी से उभरेगा। सोने और जागने का अर्थ, समाज के साधारण से साधारण मनुष्य समझता है। वह यह भी जानता है कि वह -

जितनी देर सोता रहता है, उतनी देर उसे न तो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय की दुनियां का कोई ज्ञान होता है और न ही, उसे पराजगत का कोई ज्ञान होता है।

सोकर उठने के बाद उसे उन शक्तियों के उभरने का आभास होता है-जो क्रिया के समय मेहनत के कारण समाप्त हो गयी थीं।

ये शक्तियां, मात्र पराजगत की धरोहर हैं।

इन शक्तियों की प्राप्ति इस बात का प्रमाण है कि; यद्यपि इन्द्रिय जगत और पराजगत में से किसी भी क्षेत्र में वह जाग नहीं रहा था-फिर भी वह -

सोते समय पराजगत में ही था।

इस बात को हम और विस्तार से समझते हैं-जो भी वायुमण्डल में है-उसका शरीर सोते समय और जागते समय भी वायु का सेवन कर लेता है-उसे कराना नहीं पड़ता। इसी प्रकार से जिसका मन; सोते हुए भी पराजगत में चला जाएगा - उसके मन में पराजगत की शक्ति पिरो जाएगी। इसके लिए उसे कुछ भी नहीं करना है। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि

जब भी वह गहरी निद्रा के बाद उठता है-उसे एक विशेष सुख और आन्तरिक जगत की शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियों का उभार अनुभव होता है।

लेकिन यदि उसे इस उभरी हुई शक्ति का ज्ञान नहीं होगा-तो निश्चित रूप से आयु बढ़ने के साथ साथ यह उभार भी कम होता जाएगा और मनुष्य का मन, बुद्धि, शरीर-क्षीण होता चला जाएगा। यह Depression का कारण होगा।

हमने देखा कि जीवन, दु:ख से सुख की ओर मुड़े-इसके लिए पराजगत की शक्ति का ज्ञान अनिवार्य है। ज्ञान, मात्र जागृत अवस्था में सम्भव है। जिस क्षेत्र का ज्ञान चाहिए, उस क्षेत्र में मनुष्य की जागृति आवश्यक है। इस सत्य की पुष्टि के लिए समाज के मनुष्यों के जीवन की ओर ध्यान ले जाएं-तो हमें ज्ञात होगा कि अलग अलग मनुष्यों को अलग अलग विषयों का ज्ञान है। जिस विषय का भी ज्ञान है-वह अवश्य उस क्षेत्र में नित्य कुछ घण्टों के लिए बहुत दिनों तक जागृत अवस्था में रहने का अभ्यास कर चुका है। विषय, किसी विद्या का हो या किसी क्रिया के ज्ञान का-यदि वह जागृत अवस्था में इन्द्रिय जगत में है-तो इन्द्रिय जगत का किसी एक दिशा का ज्ञान तो उसे हो सकता है, लेकिन हर दिशा का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि **इन्द्रिय जगत की बुद्धि की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि; वह एक समय में केवल एक दिशा में क्रियाशील रहती है।** इसका

परिणाम यह होता है कि उस दिशा के अलावा इन्द्रिय जगत में जितनी दिशाएं हैं-उनमें से किसी भी दिशा में उसकी जागृति नहीं रहती। दूसरे शब्दों में यह कहें कि; बाकी सब दिशाओं में वह केवल सोता रहता है। हम जानते हैं कि हमारा मस्तिष्क जागृत अवस्था में दूसरी तरह काम करता है-अर्थात् ज्ञान लेते समय दूसरी तरह काम करता है और ज्ञान न लेते समय दूसरी तरह काम करता है। हमारे मस्तिष्क में, न मालूम कितने यंत्र साथ साथ क्रियाशील रहते हैं।

मात्र इन्द्रिय जगत में जागने और अपने में सोने वाले व्यक्तियों के मस्तिष्क में जो यन्त्र लगे हैं-वे किसी एक दिशा में जागने का काम, वर्षों करते रहते हैं?

बाकी दिशाओं में वर्षों तक न जागने का काम करता है-इस कारण जिन दिशाओं के क्षेत्र की जागृति का प्रयोग नहीं होता-उन दिशाओं के जागृति सम्बन्धी यन्त्रों में जंग लग जाता है। इस तरह से देखना कितना आसान है कि; जीवन के सुख-जो मात्र अलग अलग दिशाओं के जागृति से जुड़े हैं-किसी एक दिशा में मिलने लगता है। ऐसी दिशाएं ज्यादा हैं, जिनके सुख को वह खोने लगता है। इसीलिए जीवन अपने आप; आयु बढ़ने के साथ साथ दु:ख की ओर चलने लगता है। समाज के अधिकतर मनुष्यों को यह गलतफहमी है कि; किसी एक दिशा का सुख-विशेष रूप से सामाजिक धन का सुख बढ़ने से; जीवन के समस्त सुख मिल जायेंगे। सत्य यह है कि; सुख मात्र जीवन के उन पहलुओं को मिलता है-जिन पहलुओं की जागृति बनी रहती है।

सुख का सम्बन्ध हमारी जागृति में उपजे हुए ज्ञान से है-इस सत्य की जानकारी समाज से लुप्त हो गयी है।

यह विश्व ब्रह्माण्ड; स्थूलता और सूक्ष्मता की दृष्टि से चार भागों में बंटा हुआ है :-

(1) मेहनत के साथ ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का क्षेत्र।

(2) मेहनत सम्बन्धी मात्र विचारों का क्षेत्र,

(3) मेहनत से परे विचारों का क्षेत्र और

(4) विचारों से परे का क्षेत्र

मेहनत सम्बन्धी विचारों का क्षेत्र, मेहनत के साथ इन्द्रिय जगत के क्षेत्र और मेहनत से परे विचारों के क्षेत्र का बार्डर है। इस तरह से हम इन चार क्षेत्रों को तीन क्षेत्र भी कह देते हैं-

(1) मेहनत सम्बन्धी विचार या क्रियाओं का क्षेत्र,

(2) मेहनत से परे विचारों का क्षेत्र और

(3) विचारों से परे का क्षेत्र।

हर स्थूल में सूक्ष्म विराजमान है-इसलिए इन्द्रिय जगत की प्राकृतिक शक्तियां - सूर्य, चन्द्र, नभ में अनन्त तारे; राशियां, मौसम, पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण शक्ति इत्यादि के सूक्ष्म भाग तो मनुष्य के पराजगत में उपस्थित हैं।

पराजगत; अर्थात् मेहनत से परे विचारों के क्षेत्र में-या विचारों से परे क्षेत्र में जागना ही, अपने आप में जागना है।

या यह कहें कि अपनी जीवात्मा में जागना है और जब तक मनुष्य अपने में जागने का समय नहीं निकालेगा-वह कभी न खत्म होने वाली शक्ति के भण्डार-आत्मा का ज्ञान नहीं पा सकेगा। जिसे इसका ज्ञान नहीं होगा-उसे इस क्षेत्र की शक्ति का लाभ भी नहीं मिलेगा। अपने में जागने का अर्थ है कि वह मात्र विचारों के क्षेत्र में जाग रहा है - ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के क्षेत्र में नहीं जाग रहा है। जो व्यक्ति एकान्त और अंधेरे में आंख बन्द करके, मात्र विचारों के क्षेत्र में जाग रहा है-वह इस बात को अनुभव कर रहा है कि उसकी जाग, क्रियाओं के क्षेत्र में नहीं है। विचारों के क्षेत्र में जागते जागते, वह पराजगत में चला जाता है-लेकिन उसे पता नहीं चलता कि वह कब गया। लेकिन वह यह भी नहीं मानता कि वह सो गया। यह इस बात का प्रमाण है कि वह 'परा से पराजगत' में जब गया-तब भी जाग रहा था। वहां से लौटकर जब पराजगत में आया-तब भी जाग रहा था-अर्थात् सम्पूर्ण आन्तरिक जगत में वह जाग रहा था। लेखक के साथ दस पन्द्रह वर्षों से अभ्यास (ध्यान) करने वाले साधकगण यह भी अच्छी तरह से अनुभव करते हैं कि; इस क्षेत्र में जागते समय-जाग की दिशा बुद्धि द्वारा काफी समय के लिए किसी एक

दिशा में नहीं रहती; अर्थात् वह सारी दिशाओं में बिल्कुल इस तरह से जागृत रहता है-जैसे एक ही सूर्य से किरणें अनन्त दिशाओं में निकलती हैं। बिल्कुल इसी प्रकार से

अपने में जागने वाले व्यक्ति के आन्तरिक क्षेत्र से जागृति की किरणें, पराजगत की हर दिशा में आती हैं।

ऊपर हम देख चुके हैं कि प्रकृति की बड़ी बड़ी शक्तियां-जिन्हें हम इन्द्रिय जगत में देखते हैं, उनका सूक्ष्म भाग, पराजगत में है। अर्थात् अपने में जागने वाले व्यक्ति का ज्ञान, तो पूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान होगा। यह ज्ञान इतना बड़ा है कि पूर्ण जागृति पैदा करने के लिए, हमें अपने में जागने का कितना अभ्यास करना पड़ेगा-बताना अत्यन्त कठिन है।

अपने में जागृति क्या है? और इसका रास्ता क्या है?

जागना तो साधकों को स्वयं है। हम बाहर की दुनियां में ऐसे भी देखते हैं कि सिखाने वाला कुछ सिखा देता है-लेकिन सीखने की अवस्थाएं तो अलग अलग रहती ही हैं। बिल्कुल इसी प्रकार से इस वैदिक शिक्षा का रास्ता दिखाना, लेखक का कर्तव्य है। लेकिन इस ओर आगे बढ़ने के लिए अलग अलग व्यक्तियों की धारणाओं में अलग अलग अवस्था की दृढ़ता तो अवश्य होगी। इसी दृढ़ता के आधार पर कोई जल्दी आगे बढ़ेगा और कुछ साधक ऐसे भी होंगे-जो केवल धीरे धीरे ही आगे बढ़ेंगे। फिर भी इस रास्ते पर अभ्यास करते हुए; यदि कोई लेखक से सम्पर्क बनाए रख करके उसकी मदद लेना चाहेगा-तो अपनी शक्ति के अनुपात में वह उसकी मदद अवश्य करेगा।

आत्म ज्ञान का रास्ता अपने आप में जागना है।

इन्द्रिय जगत के किसी क्षेत्र में जागने से, आत्म जागृति नहीं होती।

यदि समाज के साधारण मनुष्य के जीवन की ओर ध्यान ले जाएं-तो पता चलता है कि अधिकतर लोग सोते तो अपने आप में हैं, लेकिन केवल अपनी बुद्धि द्वारा बताए हुए इन्द्रिय जगत की कुछ विशेष दिशाओं में ही जागते हैं। परिणामस्वरूप समाज के प्रतिष्ठित मनुष्य वे हैं-जिनमें इन्द्रिय जगत के किसी विशेष दिशा की

जागृति है; लेकिन आत्म जागृति नहीं है। इस दुर्भाग्य का कारण, कलियुग से वैदिक शिक्षा का लोप होना है। कोई व्यक्ति विशेष, जिसे यह शिक्षा मिले-वह अपने में जागने का अभ्यास करके, पूर्ण जागृति के जितने समीप पहुंच जाएगा-उसके जीवन में उतनी ही बड़ी बड़ी इच्छाओं की पूर्ति सम्बन्धी परिस्थितियां उत्पन्न होने की सम्भावनाएं स्वयं बढ़ जाएंगी।

आत्म तत्व सच्चिदानन्द स्वरूप है।

ज्यों ज्यों अभ्यास द्वारा मन भावातीत या पराजगत में विचरण करके इन्द्रिय जगत में वापस आता है-त्यों त्यों वह अपने मन में आत्म तत्व को पिरोकर वापस आता है। ज्यों ज्यों आत्म तत्व पिरोयेगा-मन में चेतना का उभार होगा-अर्थात् जागृति आयेगी।

हर चीज की शक्ति, जड़ में है।

पेड़ की शक्ति पेड़ की जड़ में है। सोना, चांदी, तांबा और पीतल की शक्ति, उसके परमाणुओं में है। बिल्कुल इसी प्रकार से सूर्य, चन्द्रमा, प्लेनेट्स, राशियां और मौसम इत्यादि बड़ी बड़ी शक्तियों की शक्ति, पराजगत में है। इन समस्त क्षेत्रों की जागृति के साथ साथ यदि मनुष्य इन्द्रिय जगत में जागना सीख लेगा-तो उसकी इच्छाओं को इन्द्रिय जगत की जागृत अवस्थाओं में; प्रकृति की ऊपर बतायी हुयी सारी शक्तियों का लाभ मिलेगा। या यह कहें कि

सारी शक्तियों का सामंजस्य, उसकी इच्छाओं की पूर्ति की ओर होगा।

अब यह अनुभव करना आसान होगा कि; समय बीतने के साथ साथ उसका जीवन सुखदायी क्यों होगा?

केवल अपने में जागने के अभ्यास पर चलने वाले व्यक्तियों को कुछ ऐसी अनुभूतियां भी होंगी जो साधारण व्यक्तियों को नहीं होतीं। उदाहरण के लिए जैसे; हर तरह के व्यावहारिक जीवन में कुछ अधिक सुख का अनुभव प्राप्ति का अनुभव इत्यादि। अपने आप में जागृति उत्पन्न करने वाला व्यक्ति इन्द्रिय जगत के सुख के साधनों की कमी में भी अपने में, सुख महसूस करेगा।

मन, स्नायु संस्थान के स्तर पर जुड़ा रहने के कारण, पेड़ रूपी शरीर की जड़ों को 'परा की शक्ति' प्रदान करेगा।

जिससे हमारे शरीर की अलग अलग पर्तों की नसों में-विशेष रूप से मस्तिष्क की नसों में, इन्द्रिय से परे का सुख महसूस होगा। ऐसे अनुभव; इस बात के प्रमाण हैं कि हमारे 'मैं' के अनुभव-इन्द्रिय क्षेत्र में रहते हुए बदले हुए भी हैं - अर्थात् हमारे 'मैं' में चौथी चेतना जागृति हो रही है। यह चेतना परा चेतना है -

हमें बताता है कि हमारे 'मैं' की अवस्था भी बदल रही है।

'मैं' की अवस्था बदलने का कारण, मन में उभरता हुआ सत्-चित्-आनन्द और 'मैं' की चेतना जागृत होगी। 'मैं' की चेतना की जागृति में, धीरे धीरे विषयों के क्षेत्र की बुद्धि पर, 'परा की बुद्धि' हावी हो रही है। धीरे धीरे इन्द्रिय जगत की बुद्धि, पराजगत की बुद्धि पर समर्पित होने लगती है। यह चतुर्थ चेतना का अनुभव है। हम ऊपर देख चुके हैं कि चतुर्थ चेतना के साथ शरीर, पहले से अच्छा होने लगता है और इस अच्छाई के अनुभव में, बचपन की लोच लौटती हुई दिखाई देती है।

शरीर में लोच का लौटना ही शरीर की कोमलता है।

मात्र ऐसे कोमल शरीर की पर्तों में, जागृत चेतना वाला 'मैं' प्रवेश करने लगता है। आज का विज्ञान हमें बताता है कि शरीर की ऊपरी त्वचा तो 19वीं पर्त है। अत: धीरे धीरे जागृति बढ़ने के साथ साथ हमारा 'मैं' धीरे धीरे आन्तरिक पर्तों में प्रवेश करेगा और इन पर्तों में स्थापित देवी देवताओं के सम्पर्क में आएगा। 'मैं' की जागृति, इन देवी देवताओं को जागृत करेगा और तभी ये देवी देवता, हमारी इच्छाओं के अनुरूप परिस्थितियां जीवन में उत्पन्न करने में मदद करेंगे।

- - - - - - - - - - -

'मैं' की जागृति

पिछले 'आत्म जागृति' शीर्षक लेख में देखा कि; आत्म क्षेत्र क्या है?

आत्म जागृति का अर्थ क्या है? आत्म जागृति कैसे बढ़ती है?

अब हम देखेंगे कि इस 'आत्म जागृति' का हमारे जीवन के 'मैं' पर क्या प्रभाव पड़ता है? किस तरह से हमारे 'मैं' में जागृति पैदा होती है? साधना करने वाले साधक अच्छी तरह जानते हैं कि प्रकृति हमें शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि और शुद्ध शरीर प्रदान करती है। हमारा 'मैं' मात्र मन और बुद्धि के योग से उत्पन्न होता है। शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि और शुद्ध शरीर का अर्थ है कि मन, बुद्धि और शरीर पर 'क्रिया जगत' की क्रियाओं की छाप नहीं पड़ी है। इस अवस्था को अच्छी तरह समझने के लिए हम इन्द्रिय जगत का एक उदाहरण लेते हैं :-

मान लें कि एक बर्तन खाली है। इसका अर्थ यह हुआ कि बर्तन में हवा भरी है। यदि बर्तन में कोई वस्तु डालते हैं-तो बर्तन की हवा अपने आप कम हो जाती है।

इसी प्रकार से जिन मन, बुद्धि और शरीर पर बाहर की क्रियाओं की छाप नहीं होती-वे मन, बुद्धि और शरीर; 'आत्म शक्ति' से पूर्ण होते हैं। ज्यों ज्यों इन पर क्रियाओं के क्षेत्र की छाप पड़ती है-लेकिन निकल नहीं पाती और उम्र बीतने के साथ साथ क्रियाएं बढ़ने के कारण; पड़ी हुई छापों की परतें बढ़ने लगती हैं-त्यों त्यों 'आत्म शक्ति' या पराशक्ति का प्रभाव-मन, बुद्धि और शरीर से कम होने लगता है। इस तरह से यह समझना बहुत आसान है कि; यदि 'जीवन शिक्षा' ऐसी है कि क्रियाओं के क्षेत्र में व्यस्तता बढ़ती जाती है, लेकिन वह इनके प्रभाव को निकालने की शिक्षा प्राप्त नहीं करती-तो आयु बढ़ने के साथ साथ मन, बुद्धि और शरीर पर बाह्य जगत की क्रियाओं के प्रभाव की पर्त घनी होती चली जाती है। मन, बुद्धि और शरीर में 'आत्म शक्ति' के संचालन की कमी बढ़ने लगती है। मन, बुद्धि और शरीर में 'आत्म शक्ति' के संचालन की कमी को ही; जीवात्मा का सोना कहते हैं। इसकी पूर्णता ही जीवात्मा की जागृति कहलाती है।

ऊपर हमने अच्छी तरह समझा कि; विशुद्ध मन और विशुद्ध बुद्धि का क्या अर्थ है? इसी के आधार पर अशुद्ध मन और अशुद्ध बुद्धि का अर्थ, हम आसानी

से समझ लेते हैं। मन और बुद्धि के योग से ही हमारा 'मैं' उत्पन्न होता है। इसलिए मन और बुद्धि की अवस्थाओं के आधार पर ही हमारे 'मैं' की अवस्था बनती है। समाज के हर व्यक्ति को यह ज्ञान है कि; साधारण मनुष्य प्रातः उठने के पश्चात् ही; इन्द्रिय जगत की क्रियाओं में व्यस्त हो जाता है। रात्रि आने तक वह क्रिया करने में असमर्थ हो जाता है। आयु बढ़ने के साथ साथ वह अलग अलग तरह की क्रियाओं में व्यस्त होने की कला सीखता है। लेकिन कोई भी व्यक्ति, हर तरह की क्रिया में व्यस्त नहीं रह सकता। परिणामस्वरूप; मात्र कुछ 'सीमित क्षेत्र' की क्रियाओं में, नित्य का जीवन बीतने लगता है। इन सीमित क्षेत्र की क्रियाओं के प्रभाव की परतें; मन, बुद्धि और शरीर पर घनी होने लगती हैं। कहने का अर्थ है कि; बुद्धि में मात्र कुछ विशेष तरह की क्रियाओं का ज्ञान अलग अलग व्यक्ति को हो जाता है। मात्र इस ज्ञान द्वारा प्रदान किए हुए सुख या दुःख के साथ मन, जीवन बिताने लगता है।

मन और बुद्धि के योग से उत्पन्न 'मैं' ही;

मन में सुख दुख का प्रभाव अनुभव करता है।

अपनी बुद्धि के ज्ञान का महत्व, 'मैं' में बढ़ने लगता है। यह, यहां तक बढ़ता है कि इस 'सीमित ज्ञान' का मूल्य, जीवन में छा जाता है और 'असीम का ज्ञान' ढक जाता है। जिस अनुपात में 'असीम का ज्ञान' ढकता है-उसी अनुपात में हमारे 'मैं' की जागृति कम होती है। जिस अनुपात में 'मैं' की जागृति कम होती है-उसी अनुपात में 'मैं' का अहंकार बढ़ जाता है।

यह अहंकार हमेशा 'मैं' के 'करने की शक्ति' से जुड़ा है। लेकिन क्रियाओं के क्षेत्र का जीवन भी, करने की शक्ति के साथ साथ 'होने की शक्ति' से भी जुड़ा होता है। 'होने की शक्ति' आत्म शक्ति पर निर्भर करती है। कहने का अर्थ यह है कि ज्यों ज्यों मन, बुद्धि और शरीर पर क्रियाओं के क्षेत्र का प्रभाव घना होने लगता है-त्यों त्यों आत्म शक्ति, मन की इच्छाओं के अनुरूप काम कम करती है और; प्रतिकूल काम अधिक करने लगती है। इसी प्रकार से आत्म शक्ति या 'होने की शक्ति', हमारी बुद्धि के ज्ञान के प्रतिकूल भी क्रियाशील हो जाती है। 'होने की

शक्ति' की यह प्रतिकूलता, हमारे अहंकार को चोट पहुंचाती है। धीरे धीरे मनुष्य का शरीर भी उसकी इच्छाओं के अनुरूप, काम नहीं करता। 'क्रिया जगत' में बुद्धि के ज्ञान के आधार पर, वह चाहता कुछ है-लेकिन उसे परिणाम कुछ और ही देखने को मिलता है। मात्र इस स्तर के लोगों के लिए, गीता (2.47) में श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है कि हमारा अधिकार अपने कर्मों पर तो है; लेकिन कर्मों के फल पर नहीं है।

ऊपर हमने देखा कि, अहंकार की परिभाषा क्या है?

कलियुग में आयु बढ़ने के साथ साथ मनुष्य का अहंकार क्यों और कैसे बढ़ता है? अहंकार के बढ़ जाने को, आध्यात्मिक समाज के लोगों ने जीवत्मा का सो जाना कहा है। जीवात्मा, निश्चित् रूप से इस प्रकार नहीं सो सकती-जैसे एक मनुष्य सोता है

क्योंकि स्वयं जीवात्मा, मनुष्य नहीं है।

ऊपर हमने यह भी देखा कि जीवात्मा के सोने का कारण और हमारे 'मैं' में अहंकार बढ़ने का कारण; मात्र क्रियाओं के जगत में बुद्धि के साथ मन के विचरण का, आन्तरिक जगत में प्रभाव है। अत: यह स्पष्ट है कि वे व्यक्ति; जिनका जीवन-मात्र घोर निद्रा, स्वप्न और इन्द्रिय जगत की क्रियाओं की जागृति में रहता है-उनके 'मैं' में आयु बढ़ने के साथ साथ अहंकार बढ़ता ही जाएगा। यही, उनके जीवन के बुढ़ापे के दु:ख और Depression के कारण बनेंगे। या यह कहें कि धीरे धीरे जीवात्मा के सोने के कारण होंगे। या यह कहें कि; उनके आत्म पतन का कारण होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि;

जीवन को सुखमय बनाने के लिए हमें आत्म उत्थान करना होगा-या यह कहें कि आत्म जागृति पैदा करनी पड़ेगी-या यह कहें कि अपने अहंकार को कम करके जीवात्मा को जगाना पड़ेगा और; अब हम देखेंगे कि यह कैसे होगा?

जिन साधकों ने जनवरी, 2000 के उपरान्त सारे लेख पढ़े हैं; वे अच्छी तरह से जानते हैं कि जीवात्मा के क्षेत्र को एक साधारण से साधारण साधक, उस क्षेत्र के

रूप में अनुभव कर सकता है-जहां मन की फिसलन के कारण उठते हुए विचार, बुद्धि के नियन्त्रण में नहीं रहते। वे यह भी जानते हैं कि; मात्र अभ्यास (Meditation) के बाद स्वयं उनका 'मैं', आत्म क्षेत्र की अनुभूति- साधना के समय मन की बढ़ती हुयी शान्त अवस्था के रूप में, अनुभव कर सकता है। बढ़ती हुई शान्त अवस्था के समय, उसे ऐसा प्रतीत होगा-जैसे उसका मन एक बिन्दु की ओर विचरण करता हुआ बढ़ रहा है। यद्यपि सत्य यह है कि वह ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म पर्तों की ओर जा रहा है - अर्थात् धीरे धीरे भावातीत होने की ओर जा रहा है।

उसकी यह अनुभूति ब्रह्म के समीप जाने की है। साधक यह भी अच्छी तरह जानता है कि यह अनुभूति आज के साधारण मनुष्य की तीन चेतनाओं में से नहीं है। अर्थात् यह अनुभूति तो केवल उसे हो सकती है-जो साधना करके अपने मन में चौथी चेतना जागृत कर सके।

चौथी चेतना-आन्तरिक जगत की सूक्ष्म पर्तों की चेतना है।

साधक यह भी जानता है कि यदि वह आंख बन्द करके, एकान्त में, अंधेरे में, प्रयासहीनता के साथ बैठेगा-तो निश्चित रूप से मन, ज्ञानेन्द्रियों और क्रियाओं का क्षेत्र छोड़ देगा। अर्थात् उसकी चेतना तो मात्र उन विचारों के क्षेत्र की होगी-जो जीवन की क्रियाओं के क्षेत्र की तुलना में सूक्ष्म जगत में है। भावों के क्षेत्र में बैठे बैठे, मात्र प्रयासहीनता (Meditation) के आधार पर मन फिसल कर, बुद्धि की दुनियां छोड़ देगा और; भावातीत होकर फिसलन वाले भावों के क्षेत्र में कुछ देर रहेगा; फिर बुद्धि के नियन्त्रण में रहने वाले विचारों के क्षेत्र में वापस आ जाएगा। जो भी साधक, साधना के समय उपरोक्त बतायी हुई अनुभूतियों को अनुभव करेगा- उसे मान लेना चाहिए कि उसकी चतुर्थ चेतना जागृत होने लग गयी है- अर्थात् आत्म क्षेत्र में विचरण की जागृति, उसमें उत्पन्न हो गयी है।

यह जागृति कैसे उत्पन्न होती है?

यह जागृति उत्पन्न होती है, जीवात्मा जगती है - इसका अर्थ क्या है?

अर्थात्; जीवात्मा जागती है-हमारा अहंकार कम होता है।

मन; मात्र मेहनत के कर्म से आराम के कर्म में आते ही-परातत्व के समुद्र में

फिसल कर भावातीत हो जाता है; अर्थात् निर्गुण निराकार तत्व के समुद्र में डूब जाता है। ऐसा होते ही; उसका 'मैं' समाप्त हो जाता है। यहां पर 'मैं' और परातत्व का योग होता है। योग, साधारण मिलाप को नहीं कहते। योग, केवल उन दो तत्वों के मिलाप को कहते हैं-जिन तत्वों के मिलने के बाद; प्राकृतिक यौगिक क्रियाएं उत्पन्न हो जायं और एक नया यौगिक उत्पन्न हो-जिसमें उन तत्वों के गुण न हों, जिन तत्वों का योग हो। यौगिक को अंग्रेजी भाषा में (Compound) कहते हैं। 'मैं' और परातत्व के योग से 'मैं' का समाप्त हो जाना-इस बात का प्रमाण है कि; जिन तत्वों का योग हुआ, स्वयं वे समाप्त हो गए और, नया यौगिक, 'शून्य' उत्पन्न हो गया।

यही 'मैं' और ईश्वरीय तत्व का योग है।

पराजगत की बुद्धि, परातत्व के समुद्र के अलग अलग स्तर की गहराइयों में, अनन्त की बुद्धि के रूप में पिरोयी हुई होती है। इसका प्रभाव, क्रिया जगत की बुद्धि पर इतना गहरा पड़ता है कि; 'मैं' अपनी क्रिया की क्षमता को पूर्ण रूप से खो देता है और; मात्र 'होने की दुनियां' में रहता है। पाठकगण आसानी से समझ सकते हैं कि

प्रयासहीनता के अभ्यास के समय 'मैं' क्यों खोता है?

मन में परातत्व, अपने आप इस प्रकार पिरो जाता है-जैसे जब शरीर हवा के समुद्र में रहता है-तो हवा का सेवन अपने आप हो जाता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि; मात्र एक बर्तन में वस्तु रखने से बर्तन की वायु कम हो जाती है और मात्र वस्तु हटाने से, वायु अपने आप भर जाती है। बिल्कुल इसी प्रकार से; मात्र तीन चेतनाओं में रहने वाले व्यक्तियों के मन, बुद्धि और शरीर पर क्रियाओं के क्षेत्र का प्रभाव तो बढ़ता है; लेकिन पिरोए हुए परातत्व कम हो जाते हैं।

> **चतुर्थ चेतना में हम जितना समय बिताते हैं-उतने समय तक परातत्व के पिरोने से, क्रियाओं के जगत के प्रभाव का घनत्व कम होने लगता है।**

धीरे धीरे मन और बुद्धि; दोनों अशुद्ध से विशुद्ध होने लगते हैं। प्रकृति के नियम

के अनुसार चतुर्थ चेतना में मन, उस शक्ति को लेता है-जिस शक्ति के योग में यदि मन की इच्छाएं आ गयीं-तो क्रिया जगत में मात्र 'होने की शक्ति' के माध्यम से वे परिस्थितियां उत्पन्न हो जाएंगी-जिन परिस्थितियों की क्रियाएं फल रूपी इच्छाओं की पूर्ति करेंगी। यह शक्ति, मन में पिरोती है।

इच्छाएं पहले से ही, मन में हैं।

इसलिए इस योग को ही जानना है-करना नहीं है। मन और परातत्व के योग के साथ साथ ही; बुद्धि में पराजगत की बुद्धि पिरो जाती है।

पराजगत की बुद्धि, असीम है।

पराजगत की बुद्धि जिस समय पिरोती है-इसी समय मन की शक्ति का योग, जिन इच्छाओं से होता है-उन इच्छाओं को पूर्ण करने वाली क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान बुद्धि में, उसी समय पिरोता है। साधकगण पहले ही देख चुके हैं कि; जब ज्ञान अपूर्ण होता है-तो क्रिया करनी पड़ती है। लेकिन जब ज्ञान पूर्ण होता है-तो ज्ञान सम्बन्धी क्रिया करनी नहीं पड़ती; अर्थात् क्रिया और ज्ञान, एक हो जाते हैं-अलग अलग नहीं होते।

यह अद्वैत की अवस्था में होता है।

यह द्वैत की अवस्था में नहीं होता। अत: वैदिक शिक्षा में अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए, कड़ी मेहनत का प्रावधान नहीं है। मनुष्य का जीवन, धीरे धीरे आयु बढ़ने के साथ साथ मात्र प्रयासहीन कर्म के माध्यम से, सब कुछ पाने लग जाता है। इसी विद्या और ज्ञान को दर्शाते हुए अपने युग के महान् सन्त तुलसीदास ने लिखा था कि 'हरि की शक्ति' में तो समस्त इच्छाओं को पूरा करने की शक्ति है-

जो इच्छा करिहहु मनमाहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥

बाहर के जगत में बाहरी जीवन भी दो भागों में बंटा है। मनुष्य किसी एक क्षेत्र में मेहनत करके, बाहर का धन अर्जित करता है। फिर दूसरे क्षेत्र में जाकर, उसे व्यय करता है। इसी प्रकार से पराजगत में विचरण करके मन इच्छापूर्ति शक्ति अर्जित करता है।

इच्छाओं की पूर्ति सम्बन्धित क्रियाएं-किसके द्वारा और कैसे होंगी?

इसका पूर्ण ज्ञान लेकर अनुरूप परिस्थितियों को बताने हेतु; फिर से मन और बुद्धि का योग, क्रिया जगत में होता है। साधना के अभ्यास के कारण, क्रिया जगत में उपरोक्त मन और बुद्धि का योग, जब होता है-उस समय तक मन में बहुत परातत्व पिरो चुका होता है। मन स्नायु संस्थान के स्तर पर शरीर से जुड़ा होता है। स्नायु संस्थान पेड़ रूपी शरीर की जड़ है। इस तरह से ज्यों ज्यों स्नायु संस्थान में परातत्व का प्रवाह होता है-शरीर के स्तर पर पड़े हुए क्रियाओं के क्षेत्र के प्रभाव कम होने लगते हैं। मन पर पड़े हुए प्रभाव तो मन में परातत्व पिरोते ही, कम हो जाते हैं। बुद्धि में परातत्व का ज्ञान पिरोते ही, क्रिया क्षेत्र का ज्ञान बुद्धि से निकल जाता है।

परातत्व सच्चिदानन्द है, इसमें सत्-चित्-आनन्द है।

चित् ही चेतना है - चेतना का बढ़ना ही, जागृति है।

इस जागृति का बढ़ना ही जीवात्मा का जागना है।

अहंकार की परिभाषा समझते समय हम समझ चुके हैं कि

इस जागृति के बढ़ने से ही अहंकार समाप्त होगा।

यह करने की शक्ति का, 'होने की शक्ति' पर समर्पण है।

यही 'मैं' की जागृति है।

\- - - - - - - - - - -

जागृत 'मैं'

जीवात्मा क्या है? जीवात्मा के सोने और जागने का क्या अर्थ है?

जीवात्मा के जागने से 'मैं', कैसे जागृत अवस्था में आता है?

जागृत 'मैं' क्या है? बहुधा लोग कहते हुए पाए जाते हैं कि 'मैं' ही उसका अहंकार है और यह अहंकार ही उसके दु:खों का कारण है। मनुष्य का 'मैं' उसके मन और बुद्धि के योग से उत्पन्न होता है। बुद्धि का विकास, मन के विचरण पर निर्भर करता है। मनुष्य जितने समय के लिए, जागृत अवस्था में रहता है-उतने समय, मात्र इन्द्रियों के क्षेत्र में विचरण करता है। मन के विचरण के आधार पर, उस क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है और क्रिया क्षेत्र की बुद्धि का विकास होने लगता है। अर्थात् विकास; मात्र उन क्षेत्र का होता है-जिन विशेष क्षेत्रों में उसका मन नित्य काफी वर्षों तक, कुछ समय के लिए विचरण करता रहता है। समझने के लिए हम कुछ उदाहरण लेते हैं -

बालक बचपन से विद्यालयों में लगभग 15-20 वर्षों तक जाता ही रहता है। इस दौरान वह कुछ विशेष विषयों के क्षेत्र में रहता है। अर्थात् उसका मन बुद्धि के साथ विचरण करता है। फलस्वरूप, मात्र उन विशेष विषयों के क्षेत्र का ज्ञान उसे हो जाता है -

यह ज्ञान कभी भी असीम नहीं होता।

और यह ज्ञान, असीम का ज्ञान भी नहीं होता।

यह, मात्र क्रियाओं के कुछ विशेष क्षेत्रों का ज्ञान होता है। इसका कारण यह है कि क्रियाओं के क्षेत्र में विकसित बुद्धि, सीमित क्षेत्र में क्रियाशील रह सकती है। हमारे शरीर में और मस्तिष्क में विश्व ब्रह्माण्ड के समस्त क्षेत्रों के ज्ञान सम्बन्धित बुद्धि के विकास का प्राविधान है। अर्थात् हमारे शरीर और बुद्धि में कुछ प्राकृतिक यन्त्र हैं - जो अलग अलग क्षेत्रों की बुद्धि का विकास करने में सक्षम हैं। इसलिए हम क्रिया के क्षेत्र में बुद्धि का विकास करने में सक्षम हैं। इसलिए इस क्रिया का विकास, जब क्रियाशक्ति के माध्यम से करते हैं-तो कुछ विशेष विषयों के क्षेत्र में तो बुद्धि का विकास करने वाले यन्त्र, क्रियाशील हो जाते हैं; लेकिन विश्व

ब्रह्माण्ड के दूसरे क्षेत्रों की बुद्धि का विकास करने वाले यन्त्रों में जंग लग जाता है। इस तरह से समझना आसान है कि क्रियाओं के क्षेत्र में क्रियाशील होकर; बुद्धि के साथ मन का विचरण कराकर-मनुष्य अपने शरीर और बुद्धि के कुछ विशेष यन्त्रों का संचालन बनाए रखने में समर्थ है- लेकिन बाकी क्षेत्रों में बुद्धि का विकास करने वाले यन्त्रों की शक्ति, हमेशा के लिए खो जाती है। इस तरह से हम आसानी से समझ सकते हैं कि; आज के मनुष्य के मस्तिष्क का केवल एक छोटा सा भाग (5 या 6 प्रतिशत) ही क्रियाशील रहता है; लेकिन मस्तिष्क का बाकी हिस्सा क्रियाशील नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति सोकर उठने के बाद, मात्र इन्द्रिय जगत में जागृत रहते हैं और इस जागृति के दौरान बुद्धि के प्रयोग के कारण जब, थक जाते हैं-तो सो जाते हैं।

ऐसे लोगों के मस्तिष्क का विकास अत्याधिक सीमित रहता है। इनका 'मैं' सीमित विकास वाली बुद्धि और दुर्बल मन से उत्पन्न होता है। अतः ऐसे 'मैं' में ज्ञान की संभावना ही नहीं होती-यद्यपि वह अपने को अज्ञानी कभी नहीं मानता।

इसीलिए उनके जीवन में समस्याएं आती हैं।

केवल ऐसे 'मैं' में ज्ञान की कमी को ही, अहंकार कहते हैं और; निश्चित रूप से मात्र इस अहंकार-अर्थात् ज्ञान की कमी के कारण उसके जीवन में जब भी कोई समस्या उत्पन्न होती है-उसका समाधान उसे नहीं मिलता। ऊपर हमने देखा कि

इन्द्रिय जगत का 'मैं' क्या है?

उस 'मैं' में ज्ञान की कमी क्यों है?

ज्ञान की कमी ही अहंकार है।

यदि हमें शक्तिशाली बनना है-तो हमें अपने मन की दुर्बलता को समाप्त करना है। जीवन के अनन्त क्षेत्रों में बुद्धि का विकास कैसे करें- इसे समझना है।

जो अनन्त क्षेत्र में अपनी बुद्धि का विकास कर सकता है-

उसकी बुद्धि में सीमाओं के क्षेत्र का ज्ञान नहीं होगा।

बल्कि असीम के क्षेत्र का ज्ञान होगा।

यह बुद्धि; ऊपर बतायी हुई बुद्धि से बिल्कुल भिन्न होगी। अब हम समझेंगे कि यह दूसरी बुद्धि, कैसी होगी ओर जीवन में इस दूसरी बुद्धि की अनुभूति कैसी होगी? मन में असीम की शक्ति हो और बुद्धि अनन्त की हो-ऐसे मन और बुद्धि के योग से जो 'मैं', उत्पन्न होगा-वह जागृत 'मैं' होगा। उसमें अनन्त का ज्ञान होगा-अर्थात् ज्ञान की कमी नहीं होगी-इसलिए अहंकार का उदय नहीं होगा। अतः यह स्पष्ट है कि यदि यह सम्भव हो सके-तो जब भी मनुष्य के जीवन में कोई भी समस्या आएगी, उसे उसका समाधान अवश्य मिलेगा। जिस मनुष्य को अपने जीवन की समस्याओं का समाधान मिलता रहेगा-वह निश्चय रूप से दुखी नहीं रहेगा।

अब हम यह देखेंगे कि ऐसा कैसे होगा?

साधकगण, पहले से ही जानते हैं कि रास्ता तो मात्र जागृत अवस्था में, प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) है। यहां पर लेखक को रास्ता नहीं बताना है। लेखक को तो यह बताना है कि; इस रास्ते पर चलने वाले व्यक्तियों के जीवन में यह कैसे होगा? यदि फिर भी किसी के जीवन में ऐसा नहीं होता है-तो कारण उसके अभ्यास के साथ 'दृढ़ संकल्प की कमी' होगी। इस बात को लेखक पहले ही बता चुका है कि

> **समाज के अधिकतर लोग मोटर साइकिल चलाना सीखते हैं। सिखाने वाला तो केवल मोटर साइकिल चलाना सिखा देता है; लेकिन मात्र किसी विशेष व्यक्ति का दृढ़ संकल्प ही; उसे मौत के कुएं में मोटर साइकिल चलाने लायक बना देता है।**

इसी तरह से हम जीवन में चाहे जो कुछ सीखें-चाहे जो रास्ता पकड़ें; हम कितनी दूर तक जा सकते हैं-यह बात अलग अलग जीवन में अलग अलग ही रहेगी। यह प्रकृति का खेल है और यह सत्य सभी के लिए अनिवार्य है।

साधारण मनुष्य; मात्र तीन चेतनाओं में रहता है-वह केवल निद्रा, स्वप्न और क्रियाओं के क्षेत्र की चेतना से परिचित है - लेकिन थोड़े से व्यक्ति हैं; जो आंख बन्द करके, एकान्त और अंधेरे में जागते हुए प्रयास हीन हो जाते हैं। उनका मन; पांच ज्ञान इन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों और बुद्धि की दुनियां को छोड़कर,

विचारों के क्षेत्र में विचरण करने लगता है। मन, ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धि से बना हुआ स्थूल क्षेत्र, छोड़कार सूक्ष्म क्षेत्र में विचरण करने लगता है। अधिकतर पाठकगण को यह ज्ञान है कि

ब्रह्माण्ड के हर सूक्ष्म पर्त में, हर स्थूल पर्त की तुलना में, शक्ति ज्यादा है और हर स्थूल पर्त को शक्ति मात्र, उसके सूक्ष्म पर्तों से ही मिलती है।

यह स्पष्ट है कि जो; अपनी दिनचर्या में मात्र विचारों के क्षेत्र में रहने के लिए समय नहीं निकालते-उन्हें क्रिया के क्षेत्र में फल देने वाली शक्ति नहीं मिलती।

भ० गीता (2.47) में श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है कि; मनुष्य का अधिकार अपने कर्म करने पर है-लेकिन उसके फल पर नहीं है।

प्रश्न उठता है कि फल का अधिकार किसका है? लेखक बार बार यही बताना चाहता है कि क्रिया क्षेत्र में क्रिया करने का अधिकार; साधारण से साधारण व्यक्ति के 'मैं' को है-लेकिन क्रिया के फल का अधिकार, क्रिया से सूक्ष्म पर्तों की शक्ति का है। अतः हम फल की शक्ति को लेकर क्रिया करें। जो मन, फल की शक्ति को लेकर क्रिया के क्षेत्र में विचरण करेगा-वह अपनी दुर्बलता को कम करके, क्रिया करेगा और; यदि वह ऐसा नहीं करेगा-तो अपनी दुर्बलता के साथ क्रिया करेगा।

बहुत दिनों से प्रयासहीनता का अभ्यास (Meditation) कर रहे साधकगण जानते हैं कि ज्यों ही मन, विचारों के क्षेत्र में प्रयासहीन होता है-वह फिसलकर विचारों के समुद्र की गहराइयों में जाते हुए, भावातीत हो जाता है। भावातीत होने के पश्चात्, वह फिर पराजगत के भावों में आता है। पराजगत के भावों का क्षेत्र-वह क्षेत्र है; जहां विचरण करते समय, स्वयं वह नहीं जानता कि वह विचरण कर रहा है-यद्यपि विचरण की अनुभूति उसे रहती है। ऐसी क्रियाशीलता के क्षणों में विचरण करने वाले का 'मैं' नहीं रहता।

ये क्षण; विचरण करने वाले 'मैं' और परातत्व के योग के क्षण हैं।

योग, केवल उस मिलाप को कहते हैं-जहां कुछ प्राकृतिक क्रियाओं के कारण,

जिन तत्वों का योग होता है-वे तत्व अपना मूल गुण खो देते हैं।

उदहारण के लिए, जैसे-हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के मिलाप से जब पानी बनता है-तो पानी एक यौगिक है; जिसमें न ही हाइड्रोजन के गुण होते हैं और न ही ऑक्सीजन के। इसी प्रकार से जब 'मैं' और परातत्व का योग होता है;

उस समय मात्र विचरण की अनुभूति रहती है, 'मैं' की अनुभूति भी खो जाती है और परातत्व की अनुभूति भी खो जाती है।

इन क्षणों में मन में परातत्व पिरोते हैं और; बुद्धि में असीम का ज्ञान पिरोते हैं। इस तरह से साधकगण समझ सकते हैं कि उनकी साधना का लम्बा अभ्यास, उनके वर्तमान 'मैं' में बदलाव लाएगा और

वह दूसरा 'मैं' जागृत (भगवद गीता में वर्णित) श्री कृष्ण का 'मैं' होगा।

जिसके मन में ब्रह्मतत्व पिरोने के कारण उसका 'मैं'; जब इन्द्रिय जगत में आएगा-तब भी परासुख के साथ जाएगा। परासुख (Bliss) के साथ इन्द्रिय सुख (Pleasure) के भोग के कारण, इन्द्रिय सुख मनुष्य को दुख देने की शक्ति खो देता है। यद्यपि परासुख की अनुपस्थिति में इन्द्रिय सुख (Pleasure) निश्चित रूप से दुखदायी होगा। इस तरह से मन, साधना के साथ साथ अपनी दुर्बलता खोएगा और शक्ति बढ़ाएगा।

ब्रह्मतत्व में आनन्द के साथ साथ चेतना का गुण भी है।

ऐसा मन; जब बुद्धि के सम्पर्क में आएगा-तो उसमें ज्ञान जागृत होगा।

ज्ञान, केवल चेतना में उत्पन्न होता है।

पराचेतना में पराज्ञान उत्पन्न होता है।

पराक्षेत्र का ज्ञान क्रिया क्षेत्र के ज्ञान से ज्यादा शक्तिशाली होता है। अतः साधक की बुद्धि में उत्पन्न पराक्षेत्र का ज्ञान, उसके क्रिया क्षेत्र की बुद्धि के ज्ञान पर हावी होने लगेगा। ज्यों ज्यों ऐसा होगा-त्यों त्यों उसके 'मैं' में एक बदलाव आएगा और;

इस बदलाव को ही समर्पण कहा गया है। समर्पण का अर्थ है कि क्रियाक्षेत्र का ज्ञान, पराक्षेत्र के ज्ञान पर समर्पित हो जाय।

अब हम देखेंगे कि पराक्षेत्र के ज्ञान की क्या विशेषताएं हैं? हमने ऊपर देखा कि साधकगण, जब स्थूल क्रिया के क्षेत्र को छोड़ देते हैं-तब विचारों के समुद्र की गहराइयों में जाने के साथ साथ, अपना 'मैं' खो देते हैं।

'मैं' के खोते ही; करने की शक्ति समाप्त हो जाती है।

इससे यह स्पष्ट है कि यह ब्रह्माण्ड दो क्षेत्रों में बंटा है - एक, जहां क्रिया सम्भव है-यही सीमित शक्ति का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में शक्ति ढूंढने वाला निश्चित रूप से अज्ञानता का शिकार है-अर्थात् उसका अहंकार उसके जीवन पर हावी है। ब्रह्माण्ड के जिस क्षेत्र में 'करने की शक्ति' क्रियाशील है; उस क्षेत्र में भी 'होने की शक्ति' क्रियाशील है। लेकिन सूक्ष्म क्षेत्र-जहां मनुष्य साधना के समय अपना 'मैं' खो देता है; वहां क्रियाशक्ति है ही नहीं-केवल होने की शक्ति है। हम अपने जीवन को बारीक दृष्टि से देखें-तो आसानी से समझ में आता है कि एक क्षेत्र है; जहां खून दौड़ता है, खाना पचता है, दिल धड़कता है-अर्थात् आन्तरिक जगत की समस्त क्रियाएं मात्र 'होने की शक्ति' से होती हैं।

वहां क्रियाशक्ति पहुंच ही नहीं पाती।

शक्तिशाली तो दुर्बल के क्षेत्र में पहुंच जाएगा-लेकिन दुर्बल, शक्तिशाली के क्षेत्र में नहीं पहुंच सकता। इस तरह से यह प्रमाणित है कि 'होने की शक्ति' का क्षेत्र ही; सर्वशक्तिशाली है और 'करने की शक्ति' के सहारे-सब कुछ पाने की इच्छा, मात्र एक अहंकारी मनुष्य की होती है-जिसका 'मैं' जागृत अवस्था में नहीं होता।

'मैं' को जागृत करने की शक्ति, मात्र चतुर्थ चेतना है।

चतुर्थ चेतना क्या है?

चतुर्थ चेतना, वह चेतना है-जो क्रियाशक्ति से परे की चेतना है; अर्थात् जिस चेतना में होने की बात है-लेकिन करने की बात असंभव है।

> **पुराण का श्लोक 'शिवत् शान्तम् अद्वैतम् चतुर्थम् मन्यते आत्मा', स्पष्ट करता है कि जो भी व्यक्ति नित्य कुछ समय के लिए चतुर्थ चेतना को प्राप्त नहीं होगा-उसे आत्मा की अनुभूति, या आत्मज्ञान की अनुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता-क्योंकि सम्पूर्ण आत्मज्ञान; मात्र चतुर्थ चेतना में ही उत्पन्न होता है।**

ज्यों ज्यों मनुष्य चतुर्थ चेतना की गहराइयों को प्राप्त होता है-त्यों त्यों उसमें आत्मज्ञान जागृत होता है; अर्थात् यह आत्मज्ञान, उसके 'मैं' को मिलता है। उसके 'मैं' को मिलने का अर्थ है कि वह इस आत्मज्ञान के साथ देखने, सुनने और खाने की दुनियां; अर्थात् इन्द्रिय के क्षेत्र में कर्म करे।

ज्यों ज्यों वह आत्मज्ञान के साथ, इन्द्रिय क्षेत्र में कर्म करेगा-

त्यों त्यों उसका 'मैं' जागृत होगा।

वर्तमान युग के मनुष्यों की क्रियाओं की ओर अपना ध्यान ले जांय-तो आसानी से समझ में आता है कि उसका लक्ष्य-किसी न किसी रूप में, किसी न किसी शक्ति की प्राप्ति ही है - चाहे वह पैसे की शक्ति प्राप्त करने के लिए कर्म करे, या विषय ज्ञान के लिए अध्ययन जैसा कर्म करे-पराजगत के कर्मों की व्यस्तता, हमारी पराचेतना को जागृत करेगी।

स्वयं; हमें जागृत 'मैं' मिलेगा।

लेखक यह बताना चाहता है कि जागृत 'मैं' क्या है? जागृत 'मैं', इस ब्रह्माण्ड की सबसे सूक्ष्म शक्ति है। बड़ी शक्ति; केवल वह है-जो मन को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर सके। मन; पूर्णरूप से तभी सन्तुष्ट होता है-जब वह अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने में सक्षम हो-या वह इच्छाओं के भोग से ऊपर चला जाय। दोनों स्तर का व्यक्ति; निश्चित रूप से सुखी रहेगा और इस सुख को प्रदान करने वाली शक्ति, जागृति 'मैं' ही है।

यही आत्मज्ञान है।

यह पराजगत का ज्ञान है। चाहे कुछ वस्तुओं के भोग की बात हो-चाहे अपने स्वास्थ्य के भोग की बात हो, चाहे अपने मन की सन्तुष्टि की बात हो-चाहे परमसुख के भोग की बात हो-चाहे वह भविष्य की किसी लालसा से सम्बन्धित हो।

हमने देखा कि वर्तमान मनुष्य की धारणा कि; मात्र उसका 'मैं' ही उसका अहंकार है; सत्य इसलिए है-क्योंकि यह धारणा उस व्यक्ति की है-जिसके 'मैं' में पराजगत की बुद्धि - अर्थात् 'होने की शक्ति'; नहीं पिरो पायी। जागृत 'मैं' का अर्थ है कि

धीरे धीरे वह क्रियाशक्ति से दूर रहकर, मात्र 'होने की शक्ति' जागृत करे और; 'होने की शक्ति', उसे जीवन में सब कुछ दे सके।

इस साधना के दौरान, मनुष्य चार अवस्थाओं में आता है-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। पुराण में सत्युग के हर मनुष्य को इन अवस्थाओं तक पहुंचने के लिए 25-25 वर्ष दिए गए।

(1) ब्रह्मचर्य की अवस्था में साधना द्वारा साधक, अपने मन में ब्रह्मतत्व पिरोकर, मन को तर बतर करता था।

(2) गृहस्थ जीवन में साधक, इस शक्ति को अलग अलग क्षेत्रों में अनुभव करता था। इसका अर्थ केवल यह है कि कर्म के अधिकार से वह, क्रिया करता था और; फल पर अधिकार रखने वाली शक्ति के माध्यम से वह फल की अनुभूति भी करता था।

(3) लगभग 50 वर्ष की आयु के बाद वह, वानप्रस्थ में आता था और; अब वह हर स्तर के फल की अनुभूति-बिना क्रिया के करता है। ऐसी अवस्था में उसके जीवन में क्रियाओं में कमी होती है। सन्तुष्टि बढ़ती है। फल, 'होने की शक्ति' से मिलता है। लेकिन उसे समय का इन्तजार अवश्य करना पड़ता है।

(4) लेखक का कहना है कि हमें समय का भी इंतजार न करना पड़े-इसके लिए तो शायद; 75 - या इससे भी अधिक वर्षों तक साधना करनी पड़े।

क्योंकि कलियुग में सतयुग के वातावरण की कमी भी तो है।

हमने देखा कि पूर्ण जागृत 'मैं' में, अहंकार शून्य है।

मात्र अहंकार ही फल पाने में बाधक है।

अर्थात् जागृत 'मैं', सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कुछ भी पा सकता है।

समाज के ऐसे व्यक्ति ही अवतार कहलाए।

राम और कृष्ण; पूर्ण जागृत 'मैं' के उदाहरण हैं।

पुराण; अलग अलग अवस्था के जागृत व्यक्तियों के चरित्र से भरा है।

- - - - - - - - - - -

मन का सागर

अनन्त की दुनियां में सीमाओं का कोई अर्थ नहीं होता।

पृथ्वी लोक पर हम एक पानी के समुद्र से परिचित हैं। सत्य यह है कि यह विश्व ब्रह्माण्ड-अनन्त तरह के समुंद्रों से बना हुआ है; जैसे- वायु का समुंद्र, प्रकाश का समुंद्र, ठंडक का समुंद्र, पत्थर का समुंद्र, सुख का सागर आदि। ये उदाहरण इन्द्रिय जगत के सागर के हैं और ये सागर सभी के अनुभव में हैं।

यही प्रमाण है कि ये सागर काल्पनिक नहीं हैं।

इन्द्रिय से परे जगत में, एक विचारों का सागर है और विचारों के सागर की अनुभूति भी, हर व्यक्ति को है। सारे सागर प्रकृति की देन हैं। अत: ये कुछ प्रकृति के नियमों से बंधे हैं। हर सागर में लहरें अवश्य होती हैं। सागर की सतह पर ये लहरें, अत्यन्त तीव्र होती हैं, लेकिन ज्यों ज्यों हम किसी भी सागर की गहराइयों में धरातल की ओर जाते हैं- त्यों त्यों सागर की लहरें शान्त अनुभव होने लगती हैं और सागर के धरातल पर लहरें बिल्कुल शान्त (शून्य) हो जाती हैं। प्रकृति का दूसरा नियम यह है कि;

सागर, किसी न किसी प्राकृतिक शक्ति का खजाना होता है और इस शक्ति की चरम सीमा-सागर के धरातल पर ही होती है।

विश्व ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म पर्तों में, स्थूल पर्तों की तुलना में ज्यादा बड़ी शक्तियां व्याप्त हैं। मात्र इस सत्य के आधार पर साधकों को यह समझ में आ जाना चाहिए कि विचारों के सागर का खजाना-अर्थात् विचारों के सागर की शक्ति ही, प्रकृति की सबसे बड़ी शक्ति है और इस सागर के धरातल पर, यह शक्ति अनन्त का रूप धारण कर लेती है। एक साधारण से साधारण मनुष्य में यह अनुभव करने की क्षमता है कि

हमारे मन का निवास स्थान; विचारों का सागर ही है।

जिस प्रकार से पृथ्वी केवल एक है; फिर भी हम अलग अलग शहरों, प्रान्तों और देशों की पृथ्वी की बात करते हैं-बिल्कुल इसी प्रकार से ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म परत

में एक ही भाव का सागर है-जिसमें एक ही मन, अनन्त मन के रूप में है। इसलिए हम अलग अलग व्यक्तियों के विचारों की बात करते हैं।

इन विचारों के संगठन से ही अलग अलग व्यक्तियों के मन में, अलग अलग इच्छाएं-अलग अलग समय में प्रकट होती हैं। इन इच्छाओं की 'पूर्ति की शक्ति' की आवश्यकता, अलग अलग मन को होगी। जिस जंगल में जो पशु होता है-उस पशु की आवश्यकताएं मात्र वही जंगल पूरी कर देता है। पानी के समुद्र में जितने भी जीव जन्तु होते हैं-उनकी सारी इच्छाओं को पूरा करने में, स्वयं जल का सागर सक्षम है। यद्यपि ये जीव जन्तु कभी कभी जल के बाहर भी आ जाते हैं, लेकिन जल के बाहर, उन्हें केवल तकलीफें मिलती हैं और अपने जल की दुनियां का सुख छूट जाता है। बिल्कुल इसी प्रकार से

मन का परम सुख तो, मात्र विचारों के धरातल पर ही है।

यद्यपि प्रत्येक जीव का मन; इन्द्रियों की मदद से भावों के सागर की सतह पर आकर, कर्मेन्द्रियों की क्रियाओं के जगत में प्रवेश करके, ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र के सुख का भोग करने में भी सक्षम है-दूसरे शब्दों में मन; इन्द्रिय सुख के सागर में भी भ्रमण करने में सक्षम है - लेकिन जैसा हमने ऊपर देखा कि जंगल के पशु को जो सुख जंगल की आजादी में है-वह किसी मनुष्य का पालतू पशु बनकर, उसे नहीं मिल सकता।

नदी की मछलियों को जो सुख नदी में मिल सकता है-वह सुख उन्हें समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के ड्राइंग रूम में शीशे के बर्तन के पानी में नहीं मिल सकता।

बिल्कुल इसी प्रकार से मनुष्य के मन को सन्तुष्ट करने वाला परम सुख (Bliss) और बिना प्रयास के, अपनी हर तरह की इच्छाओं को पूर्ण करने वाली-परम सुख में पिरोई हुयी शक्ति; भावों के सागर के धरातल पर अत्याधिक मात्रा में है और ऊपरी सतह पर सबसे कम है। सत्य यह है कि

मन, भावों के सागर की मछली है

और भावों का सागर, सबसे बड़ी शक्ति का खजाना है।

इसीलिये मन, वहां सर्वशक्तिशाली होता है।

भावों के सागर के अनन्त पर्तों में रहने वाले मन, अपने अपने पर्त की शक्ति पर रहते हैं और इस शक्ति के साथ जीवन के किसी भी पहलु में अपना जीवन बिता सकते हैं। लेकिन किसका जीवन कितना मन को सन्तुष्ट करने वाला होगा-यह मात्र भावों के सागर की उस पर्त की शक्ति पर निर्भर करेगा, जिस पर्त में रहकर मन अपनी दिनचर्या बिताता है। उपरोक्त ज्ञान हमें बताता है कि

भावों के सागर का खजाना ही; भगवान की शक्ति है।

अर्थात् पूरे विश्व ब्रह्माण्ड को होनी के द्वारा चलाने की शक्ति इसी सागर में है। मन इस सागर की मछली है-अर्थात् मनुष्य का मन 'होने की शक्ति' को प्राप्त करने में सक्षम है। 'होने की शक्ति' को प्राप्त करने के लिए, उसे नित्य कुछ समय के लिए इन्द्रिय जगत की क्रियाओं से अलग होकर 'भावों के सागर' में प्रयासहीन होकर रहना सीख ले।

पानी के 'सागर की सतह' पर भी यदि कोई तैरने का प्रयास छोड़कर, प्रयासहीन हो जाएगा-तो वह अवश्य ही डूब जाएगा। बिल्कुल इसी तरह से यदि भावों के समुद्र की सतह पर प्रयास करने वाला मनुष्य का 'मैं'; प्रयासहीन हो जाएगा-तो वह अवश्य ही डूब जाएगा। डूबने के बाद मनुष्य में अपने 'मैं' के अस्तित्व के बने रहने का प्रश्न ही नहीं उठता;

अतः जैसा कि सन्त कबीर ने समझाया; ''जब हरि था-तब मैं नाहिं''। अर्थात् ऐसे क्षणों में मनुष्य के 'मैं' और 'परमात्मा के तत्व' का योग हो जाने के कारण; योग में भाग लेने वाले तत्वों के रूप का विलय हो जाता है और इन्हीं क्षणों में सच्चिदानन्द, ब्रह्म तत्व 'मैं' में पिरोकर, 'मैं' की जागृति बढ़ाने लगता है। बार बार ऐसा योग होने से 'मैं' को धीरे धीरे प्रकृति की सबसे बड़ी शक्ति का ज्ञान होने लगता है-अर्थात् वह उसे जानने लगता है।

धीरे धीरे 'जानत तुमहिं-तुमहिं हो जाई'

के कथन की सत्यता अनुभव में आने लगती है।

हमने ऊपर देखा कि ईश्वर और उसकी शक्ति का खजाना कहां है और यह खजाना किस मन को कैसे मिलता है? जिसे यह खजाना, जिन सूक्ष्म कर्मों के

माध्यम से मिलता है; वे सूक्ष्म कर्म-मात्र मनुष्य के मन द्वारा सम्भव हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हर व्यक्ति का मन ऐसे कर्मों में अवश्य रहेगा।

मनुष्य योनि; इतनी उच्च्व कोटि की योनी है कि उसे हर तरह के सूक्ष्म और स्थूल कर्मों में रहने की स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता, भाग्यशाली होने का सूचक है। इसीलिए सन्त तुलसीदास ने लिखा -

बड़े भाग मानुष तन पावा।

सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थहि गावा॥

देवता भी बड़ी बड़ी शक्तियों के रूप में हैं। परन्तु कर्म की वह स्वतन्त्रता देवताओं में नहीं है-जो स्वतन्त्रता मनुष्य के तन में विराजमान मन की है। मन सुख का भूखा है और नए नए सुख की ओर आकर्षित हो जाता है। प्रकृति के इस सत्य के कारण; मनुष्य के गिरने और उठने-दोनों ही द्वार हमेशा खुले रहते हैं। वह किस द्वार की ओर अग्रसर होगा-यह बहुधा जन्म लेने वाले प्राणी के समाज की प्रचलित शिक्षा पर निर्भर करेगा।

सत्युग में, वैदिक शिक्षा का प्रचलन रहेगा और इस शिक्षा के कारण अधिकतर मनुष्य ब्रह्म की दुनियां में मन के विचरण का अभ्यास करेगा-दूसरे शब्दों में अपना जीवन, 'होने की शक्ति' के क्षेत्र के कर्मों में व्यस्त रखकर बिताएगा। हमारे पृथ्वी का इतिहास-पुराण हमें बताता है कि वैदिक शिक्षा का लोप अलग अलग समय में होता रहेगा और इन्द्रिय सुख के क्षेत्र की विद्या का जागरण भी होता रहेगा। काल चक्र में कलयुग के समय, अधिकतर मनुष्य इन्द्रिय जगत के अलग अलग सुखों की प्राप्ति की शिक्षा की ओर व्यस्त रहना सीख लेंगे। इन्द्रिय सुख का क्षेत्र, भावों के सागर की सतह के भावों से जुड़ा होने के कारण, शक्तिहीन होगा-अत: परम सुख (Bliss) छोड़कर इन्द्रिय सुख (Pleasure) में व्यस्त रहने वाला व्यक्ति, दुर्बल होता जाएगा और दु:खों के चक्रव्यूह में फंसता ही चला जाएगा।

कलयुग और घोर कलयुग के, पहले भी वैदिक शिक्षा का लोप कई बार हुआ होगा और ऐसा ही महाभारत के समय भी हुआ। उस समय प्रकृति ने श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद के माध्यम से वैदिक शिक्षा, फिर से जागृत की।

सन्त तुलसीदास, सन्त कबीर, शंङ्कराचार्य, गौतम बुद्ध-ऐसे बहुत से सन्त, इस शिक्षा को संसार में जागृत रखने का प्रयास करते रहे।

श्रीकृष्ण ने भी भ० गीता (2.48) में 'योगस्थ कुरु कर्माणि' का सिद्धान्त बताकर, यही समझाया कि बिना योग में स्थित हुये-दूसरे शब्दों में परमानन्द को छोड़कर, इन्द्रिय सुखों के भोग में व्यस्त रहना ही; नर्क के द्वार की ओर अग्रसर होना होगा।

इस तरह से हम समझ सकते हैं कि समाज में तीन स्तर के व्यक्ति मिलते रहेंगे। सबसे नीचे स्तर के व्यक्ति को सुखी जीवन की कला का ज्ञान नहीं होगा-ऐसे लोग मात्र इन्द्रिय सुखों को जीवन का सुख समझ बैठेंगे और सुख का साधन ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने सम्बन्धित कर्मों में व्यस्त हो जाएंगे। जब सुख के साधन की कमी न होते हुये भी; उन्हें दु:ख मिलेगा-तब वे कारण ढूंढने की ओर मुड़ेंगे और प्रकृति उन्हें 'होने' के माध्यम से रास्ता दिखाने की परिस्थितियां उत्पन्न करेगी। कोई न कोई वेद के ज्ञान का शिक्षक, सम्पर्क में आयेगा और उसे विचारों के क्षेत्र में प्रयासहीन कर्मों के माध्यम (Meditation) से जागृत अवस्था में रह कर योग में स्थित रहने की कला में निपुण होना सिखायेगा-जिससे कि वह योग में स्थित होकर इन्द्रिय सुखों का भोग कर सके।

योगस्थ की अवस्था में जितना भी परमानन्द उभरेगा-उतना ही इन्द्रिय सुख के दु:ख की शक्ति को हर लेगा। इस तरह से मनुष्य तीसरी से दूसरी अवस्था को प्राप्त हो जाएगा-अर्थात् दूसरी अवस्था का मनुष्य परमानन्द के साथ इन्द्रिय सुख का भी भोग करता है। ऐसा जीवन व्यतीत करते करते मनुष्य का परमानन्द, इन्द्रिय सुख के ऊपर हावी होने लगता है। उसके मन का खिंचाव इन्द्रिय सुख के भोग की ओर धीरे धीरे कम होने लगता है और परमानन्द की ओर बढ़ने लगता है। वर्षों ऐसा जीवन व्यतीत करने के पश्चात्; ऐसा भी समय आता है-जब इन्द्रिय सुख के भोग की ओर मन का खिंचाव भी बहुत क्षीण हो जाये और वह, मात्र परमानन्द का जीवन रहने लगे। ऐसे व्यक्ति ही प्रथम श्रेणी के व्यक्ति होते हैं।

जिस स्तर के साधकगण, लेखक के साथ साधना कर रहे हैं- उनके जीवन में

दूसरे स्तर का साधक बन जाना ही; लेखक की कल्पना में है। प्रथम स्तर के साधक का सिद्धान्त समझना; दर्शन शास्त्र के स्तर की बात है-लेकिन प्रयोगात्मक स्तर पर असम्भव नहीं है। सम्भावना इतनी आसान भी नहीं है कि लेखक उसकी कल्पना करे। भाव का सागर-मन का सागर है और मन की हर आवश्यकता पूर्ण करने में, इस सागर का खजाना सक्षम है। इसका यही अर्थ निकलता है कि

भावों के सागर में परमानन्द का सागर पिरोया हुआ है।

भावों के सागर में पिरोए हुए परमानन्द-सागर में रहने वाला मन ही; समाधि में रहता है और वह इस सागर से जो चाहे, प्राप्त कर सकता है।

\- - - - - - - - - - -

प्राकृतिक यज्ञ

मन की गतिशीलता ही कर्म है।

मन की गतिशीलता का आधार, दो तरह की शक्तियां हैं।

अतः कर्म भी दो तरह के होते हैं।

एक कर्म; कर्मेन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि के विकास के आधार पर होता है - ऐसे कर्म 'करनी' के नाम से जाने जाते हैं।

दूसरे कर्म किये नहीं जाते-बल्कि हो जाते हैं। अर्थात् 'होने की शक्ति' ऐसे कर्मों की दृष्टि के किसी जीव या प्राकृतिक शक्तियों के माध्यम से करा लेती है। ऐसे कर्म समाज में 'होनी' के नाम से जाने जाते हैं।

दोनों तरह के कर्म, जीवन को सुखदायी या दुखदायी बनाते हैं। जब 'होनी' द्वारा 'कर्म' मनुष्य के जीवन को दुखदायी बनाते हैं-तब जिस मनुष्य का जीवन दुखदायी होता है-वह बहुधा यह कहते हुए पाया जाता है कि उसका भाग्य ही खराब है। यदि उसका जीवन, उसकी 'करनी के कारण' खराब होता है - तब समाज, भाग्य की बात नहीं करता।

> **कर्म की दिशा या प्राकृतिक घटनाओं की दिशा, समाज के लिए सुखदायी हो-लेकिन दुखदायी न हो-इसके लिए, जो कर्म किये जाते हैं-ऐसे कर्मों को यज्ञ कहते हैं।**

इस लेख में हम दोनों स्तर के कर्मों के माध्यम से किये हुए; यज्ञों के विषय में विस्तार से समझेंगे। समाज में पुराण की कथाओं के आधार पर मनुष्य 'करनी' के माध्यम से किये हुए तरह तरह के यज्ञों से परिचित है। क्षत्रिय राजा अपने आपको सर्वशक्तिशाली सिद्ध करने के लिए त्रेता और द्वापर में अश्वमेघ यज्ञ करते थे। आज कलियुग में भी हर घर में सत्य नारायण की कथा के पश्चात्, हवन का प्रचलन है। हवन के विषय में यही कहा जाता है कि इससे वायु मण्डल शुद्ध होता है : सतोगुण, समाज में फैलता है और मनुष्य शुभ कर्मों की ओर मुड़ता है। जैसा ऊपर समझाया गया कि यज्ञ का उद्देश्य, कर्मों को दिशा देना है। कर्मों

की दिशा ऐसी होनी चाहिए कि मनुष्य स्वयं सुखी रहे और उसके सम्पर्क में आने वाले; यदि सभी सुखी नहीं रह सकते–तो भी ज्यादा से ज्यादा व्यक्तियों को सुखी रहना ही चाहिए।

आज का समाज 'करनी' के माध्यम से यज्ञ से तो परिचित है, लेकिन 'होनी' के माध्यम से होने वाले यज्ञों की ओर उसका ध्यान नहीं जाता– उसके महत्व की ओर ध्यान जाने की बात तो बहुत दूर की बात है। इस सृष्टि में सब कुछ बदलता है– चाहे वह मनुष्य का बनाया हुआ हो या प्रकृति का बनाया हुआ। 'होनी' की शक्ति 'प्रकृति की शक्ति' है और 'करनी' की शक्ति मनुष्य की शक्ति है। इसलिए प्रकृति की हर चीज 'होनी की शक्ति' से बंधी हुई है। यद्यपि देवी देवताओं का स्मरण बड़ी श्रद्धा और आदर से ही किया जाता है–लेकिन फिर भी सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, नक्षत्र के समस्त ग्रह; अपने कर्मों के बंधन से मुक्त नहीं हैं। मनुष्य के अलावा जितने जीव हैं–उनके कर्मों की स्वतन्त्रता का विस्तार बहुत बड़ा नहीं है। लेकिन समस्त जीव प्राणियों में मात्र मनुष्य ऐसा जीव है–जिसकी स्वतन्त्रता की कोई सीमा नहीं है। यहां तक कहा जाता है कि

मनुष्य कर्म बन्धनों से मुक्त होकर भी कर्म कर सकता है।

कर्म तो मनुष्य को भी करना है, जीवात्मा को भी करना है और परमात्मा को भी करना है।

कर्म तो प्रकृति की समस्त उत्पत्तियों को करना है।

कर्म करने वाला; क्रियाशील अर्थात् गतिशील अवश्य है। यदि मनुष्य इन्द्रिय जगत की 'प्राकृतिक शक्तियों' की गतिशीलता की ओर अपना ध्यान ले जाए–तो आज के युग के विज्ञान का थोड़ा सा ज्ञान रखने वाला भी जानता है कि; हमारे सारे ग्रह, सूर्य के चारों ओर गतिशील हैं। ठंडक, गर्मी, वर्षा, सप्ताह के सात दिन, वर्ष के 365 दिन–आप जहां तक भी सोच सकें, आपको आसानी से समझ में आयेगा कि प्रकृति की हर उत्पत्ति, एक चक्र में गतिशील है। हम इन्द्रिय जगत से ध्यान हटाकर; पराजगत की ओर अपना ध्यान ले जाएं–तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि हमारे अन्दर एक क्षेत्र है–जिसे हम देख नहीं सकते, छू नहीं सकते–जैसे

इन्द्रियों के परे के जगत में रक्त का संचार है। शरीर में थकावट का आना और उसका निकलना। मल मूत्र का बनना, श्वास का चलना, पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों की गतिशीलता–ये सभी उदाहरण प्राकृतिक 'उत्पत्तियों की चक्रिय गतिशीलता' के उदाहरण हैं।

मात्र इन अनुभवों के आधार पर यह ज्ञान हो जाना चाहिए कि प्रकृति में अनन्त यज्ञ–प्रकृति की अनन्त उत्पत्तियों द्वारा, ब्रह्माण्ड में हो रहे हैं।

ये यज्ञ केवल इसलिए हो रहे हैं–जिससे प्रकृति की एक उत्पत्ति की गतिशीलता, प्रकृति की दूसरी उत्पत्ति को गतिशीलता प्रदान कर सके। इस तरह से विश्व ब्रह्माण्ड के कण कण में एक सामंजस्य व्याप्त हो सके। ये प्राकृतिक यज्ञ के उदाहरण हैं। इतने उच्च स्तर के यज्ञ, 'करने की शक्ति' के माध्यम से तो सम्भव ही नहीं हैं। फिर भी प्रकृति की उत्पत्तियों में सर्वोच्च स्तर की उत्पत्ति, मनुष्य का जीवन है। संत तुलसीदास ने भी इस बात को अनुभव किया और निम्न चौपाई द्वारा व्यक्त किया–

बड़े भाग मनुष्य तन पावा।
सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थन्हि गावा॥

हर जीव के पास एक मन है। लेकिन मनुष्य के शरीर में विराजमान 'मन' जैसी शक्ति किसी जीव के पास नहीं है। ऊपर प्रकृति में 'होनी की शक्ति' के माध्यम से अनन्त यज्ञ, अनन्त प्राकृतिक उत्पत्तियों के द्वारा–हर क्षण हो रहे हैं; लेकिन इन सारे यज्ञों की शक्ति देने में 'मनुष्य का मन' सक्षम है। इसीलिए सारे ग्रन्थों में यही लिखा है कि देवताओं के लिए भी ऐसा सम्भव नहीं है। 'मन' भी प्रकृति की एक उत्पत्ति है–इसलिए इसे भी हर क्षण यज्ञ में रहना होगा। साधक, अच्छी तरह जानते हैं कि लेखक ने तो हमेशा यही समझाया कि 'मन' का बुद्धि जगत से फिसल कर भावातीत हो जाना और; भावातीत होने के बाद पराजगत के भावों में विचरण और; फिर बुद्धि जगत में वापस आना–एक यज्ञ है। यही ईश्वर का ध्यान है। यही ब्रह्म के क्षेत्र में मन का विचरण है।

अंग्रेजी भाषा में इसी को (Meditation) कहते हैं।

कोई भी व्यक्ति; यदि थोड़ी देर के लिए अंधेरे में और शान्त वातावरण में बैठकर, समझने की कोशिश करेगा-तो उसे आसानी से समझ में आ जायेगा कि इन्द्रिय जगत की क्रियाशीलता में व्यस्त व्यक्ति का 'मन', तुलनात्मक दृष्टि से, उतनी आसानी से 'होने की शक्ति' के माध्यम से 'होने की शक्ति' के क्षेत्र में जाकर, अपना यज्ञ पूरा नहीं कर पायेगा।

स्वयं कृष्ण भगवान ने गीता के (अध्याय 3 श्लोक 10) द्वारा इस यज्ञ के माध्यम से समस्त देवी देवताओं की उन्नति करने का परामर्श दिया। यह भी बताया कि मनुष्य के जीवन में इन्द्रिय भोग की शक्ति और साधन देने वाले देवता (अर्थात् प्राकृतिक उत्पत्तियां) हैं। दूसरे शब्दों में इन्द्रिय जगत की व्यस्तता के माध्यम से बुद्धि के विकास में यह शक्ति नहीं है। 'होनी' तो मनुष्य को इन्द्रिय सुख और ब्रह्म सुख; अर्थात् सृष्टि की हर तरह के सुख के भोग की शक्ति और साधन दे सकती है। 'होनी' दे सकती है; इसका अर्थ है कि देवता दे सकते हैं। लेकिन करनी दे सकती है-अर्थात् स्वयं मनुष्य पा सकता है; यही जीवन की सबसे बड़ी गलतफहमी है। यही माया (Illusion) है और इस माया से मुक्ति दिलाने की शक्ति; केवल 'मन' के द्वारा, बताये हुए यज्ञ में है-लेकिन जीवन के प्रयासों में नहीं है। मनुष्य को; (कम से कम साधारण मनुष्य को), स्थूल और सूक्ष्म कर्म-दोनों प्रकार के कर्मों से मुक्ति नहीं है।

ऐसे व्यक्तियों के लिए भ० गीता (2.48 व 2.50) में श्री कृष्ण ने 'योगस्थ कुरु कर्माणि' के माध्यम से 'कर्म कौशल' का एक रास्ता दिखाया। 'कर्म कौशल' का सम्बन्ध; इन कर्मों से है - जो मनुष्य जागृत अवस्था में करता है। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार, जो भी जागृत अवस्था में बार बार योग में स्थित होकर, इन्द्रिय सुख के भोग की क्रियाशीलता में नहीं आएगा-उसके इन्द्रिय सुख के भोग की शक्ति, आयु बढ़ने के साथ साथ निश्चित रूप से कम होगी; भले ही साधन कम न हों। फिर भी हम इस 'कार्य कौशल' का लाभ अपने जीवन में नहीं उठा पाते।

कारण संत तुलसीदास ने बताया -

'काहु न सुख-दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥'

पुराण हमें बताते हैं कि श्रीकृष्ण की शिक्षा तो कौरव पांडव; दोनों को मिली-यद्यपि उन्होंने शिक्षा केवल अर्जुन को दी। लेकिन शिक्षा क्या थी; यह सबको ज्ञात था। हर व्यक्ति इसका लाभ उठा सकेगा-यह संभव नहीं। इसी प्रकार से कलियुग में भी घर-घर में संत तुलसीदास की रामायण पढ़ी जायेगी और भ० गीता के पाठ होंगे। लेकिन जहां तक लाभ उठाने की बात है; अलग अलग व्यक्ति अपनी आत्म अवस्था के अनुसार ही लाभ उठा सकेगा। उसकी अवस्था उसके पिछले कर्मों की देन है-कर्म इसी जन्म के हों या पहले जन्म के हों।

संत तुलसीदास की कहावत 'निजकृत कर्म भोग सब भ्राता' का एक साधारण मनुष्य यह अर्थ निकालता है कि जो जैसा करता है-वैसा ही जीवन में वापस आता है। हर मनुष्य अलग अलग जीवन में किये हुए कर्म के कारण; अनन्त कर्मों की प्रतिक्रियाओं के घेरे में आ जाता है। वह अपने हर कर्म का फल, इसी जन्म में चाहता है और ऐसा कैसे संभव हो-यह समाज के हर प्राणी की समस्या है। इस समस्या का समाधान करने हेतु; लेखक पहले भी बता चुका है कि जीवात्मा की अवस्था के अनुसार भ० गीता के श्लोकों के अर्थ बदल जाते हैं। ये इतने उच्च स्तर का ग्रन्थ है कि हर स्तर के मनुष्य के लिए लाभदायक प्रमाणित हो सकते हैं।

'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता' का दूसरा अर्थ यह है कि कर्म दो हैं-'करनी' द्वारा कर्म और 'होनी' द्वारा कर्म।

संत तुलसीदास ने बताया है कि जो जैसा करता है-वैसी प्रतिक्रिया जीवन में अवश्य आती है। अर्थात् जो स्थूल क्रियाओं में ज्यादा व्यस्त है-केवल उसके जीवन में प्रतिक्रियाएं, की हुई क्रियाओं के आधार पर वापस आयेंगी। भगवान श्रीकृष्ण द्वारा भ० गीता में अर्जुन को दिये गये परामर्श के आधार पर; जो अपने जीवन को देवताओं की मदद से उठाने की कोशिश करेगा- (भ० गीता - 3.12) में बताया जा चुका है कि ऐसे मनुष्यों के प्रिय भोगों को देवतागण बिना मांगे प्रदान करेंगे और इसका यही अर्थ निकलता है कि पहले हमने चाहे, जैसे कर्म किये

हों-उनकी जो दुखदायी प्रतिक्रियाएं जीवन में आती हैं-उन्हें देवतागण नहीं आने देंगे। या यह कहें कि हमारे पूर्व-गलत-कर्मों को माफ करने की शक्ति, मात्र देवतागण में है। या यह कहें कि पूर्व कर्मों के आधार पर दुखदायी प्रतिक्रियाओं को जला देने की शक्ति; पराजगत के कर्मों में है। और जो जैसा करेगा; अर्थात् जो पराजगत के कर्मों में व्यस्त नहीं रहेगा-वह पूर्व कर्मों के आधार पर उनकी प्रतिक्रियाओं को अवश्य भोगेगा।

बुद्धि; मनुष्य के कर्मों को दिशा देने की शक्ति है।

कर्म, 'करनी' द्वारा भी है; 'होनी' द्वारा भी है।

लेकिन 'करनी' द्वारा कर्म को सीमित बुद्धि प्राप्त है।

सीमित बुद्धि द्वारा, सीमाओं की शक्ति-क्रिया को प्रदान करना; 'करने की शक्ति' है। लेकिन 'होनी' जैसी असीम शक्तियां मात्र तब मिल सकती हैं-जब 'होनी' के द्वारा कार्य को दिशा 'असीम बुद्धि' दे।

पराजगत, असीम का जगत है।

इस परा जगत में सीमाओं का कोई काम नहीं है।

बुद्धि के विकास का आधार; 'मन का विचरण' होता है। अत: यह स्पष्ट है कि असीम की बुद्धि के माध्यम से 'होनी के कर्मों' को दिशा देने के लिए बुद्धि के विकास का आधार; पराजगत में 'मन' का विचरण होना चाहिए। पराजगत में, जब 'मन' विचरण करता है-तब वह जितना भावातीत के निकट रहता है, बुद्धि उतनी ही असीम के निकट हो जाती है और 'असीम की बुद्धि' का ध्येय, उस मन को संतुष्ट करना होता है-जो 'मन', असीम की बुद्धि के विकास का आधार है।

जो भी संतुष्ट है-वह अपनी इच्छाओं को पूरा करने में सक्षम है। इसीलिए संत तुलसीदास ने लिखा है - कि मनुष्य की शक्ति तो 'इच्छापूर्ति शक्ति' है और जो जैसा कर्म करेगा-वह किए हुए कर्म के आधार पर बड़ी से बड़ी इच्छा को, मात्र 'होनी' द्वारा जीवन में पूरा करता रहेगा।

स्वयं जीवन; प्रकृति की उत्पत्ति है। 'करनी', जीवनदाता नहीं है। अत: यह स्पष्ट है कि जीवन के सुख का कारण; केवल 'मन' में 'प्रकृति की शक्ति' का उभार है। सभी जानते है कि 'मन' शरीर में विराजमान जीवात्मा का अंश है। मात्र इसीलिए उसमें आत्म स्वरूप होने की शक्ति है। 'करनी' और 'होनी', दोनों की दिशाएं स्वभावत: जीवन को सुखदायी हों-इसके लिए आवश्यक है कि 'मन' में आत्मशक्ति का उभार उम्र बढ़ने के साथ साथ बढ़ता ही जाय। यह उभार ही जीवन की समस्त घटनाओं के कारण होंगे।

मन में आत्मशक्ति का उभार, आत्मोत्थान का रास्ता है।

आत्मोत्थान में 'असीम की बुद्धि' पिरोयी हुई होती है और 'असीम की बुद्धि' को 'होनी की शक्ति' के माध्यम से; कर्मेन्द्रियों द्वारा भी क्रिया करा लेती है। उदाहरण के लिए, जैसे - कैकेयी के द्वारा राम का बनवास मांगना-एक ओर तो राजा दशरथ और भरत जैसे ज्ञानी, इसे बहुत ही अशुभ मानते थे-दशरथ का स्वर्गवास हो गया और भरत ने अपनी मां का त्याग कर दिया।

लेकिन लेखक ने पहले भी कई बार लिखा है कि जीवात्मा के उत्थान के रास्ते पर जिन घटनाओं को समाज बुरा मानता है; वे घटनाएं अपने आप अच्छी हो जाती हैं और सुखदायी भी हो जाती हैं।

राम का बनवास, पूरी अयोध्या से दुख मिटाने का कारण बना।

आज राम की पूजा का कारण, केवल उनका बनवास है।

इस रास्ते पर सारे ही श्राप, वरदान बन जाते हैं।

इस सत्य को पुराण की बहुत सी कथाएं प्रमाणित करती हैं।

राजा हरिशचन्द्र, को विश्वामित्र ने बहुत परेशान किया। कहानी पढ़ते समय समाज के हर व्यक्ति को यह बुरा लगता है, लेकिन यह घटना राजा हरिश्चन्द्र के आत्मोत्थान के रास्ते पर घटी। परिणाम यह हुआ कि राजा हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र, दोनों का ही उत्थान हुआ। मात्र इस घटना के पश्चात विश्वामित्र की ब्रह्मर्षि कहलाने की इच्छा पूरी हुई।

लेख के समाप्त होने से पहले लेखक यही बताना चाहेगा कि समस्त प्राकृतिक उत्पत्तियों के माध्यम से, चक्रीय गतिशीलता द्वारा परमात्मा की ओर समस्त जीवों का आत्मोत्थान होता है। कोई भी जीव आत्मोत्थान के रास्ते पर, अपने जीवन का दुख नहीं बढ़ाता। प्राकृतिक शक्तियों की चक्रिय गतिशीलता द्वारा; जो यज्ञ होते हैं-उनसे ज्यादा शक्तिशाली यज्ञ, मनुष्य अपने मन की चक्रिय गतिशीलता द्वारा कर सकता है और समस्त सृष्टि को सुख की ओर ले जा सकता है।

मन से इतना बड़ा यज्ञ कैसे हो जाता है?

यह बात समझाने के लिए ही; लेखक ने पिछला लेख 'मन का सागर' लिखा और इस लेख में उसने अच्छी तरह बताया कि

मन, भावों के समुद्र की मछली है

यह मछली, मात्र भावों के सागर के खजाने से सन्तुष्ट होती है।

भावों के सागर के समुद्र के धरातल पर 'आनन्द का सागर' है,

चेतना का सागर, सत् का सागर है।

ये सब; सागर में सागर के उदाहरण हैं

और उन सागरों में रहने के कारण ही; मन द्वारा यज्ञ-

सृष्टि के समस्त यज्ञों से शक्तिशाली हो जाता है।

\- - - - - - - - - - -

निज कृत कर्म, भोग सब भ्राता

समाज में कर्म शब्द का अर्थ-मनुष्य द्वारा की हुई क्रियाएं समझा जाता है; लेकिन ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल क्रिया, एक कर्म है-कर्म चाहे जिसके माध्यम से हो।

ज्ञान का सम्बन्ध चेतना से होता है-जैसी चेतना, वैसा ज्ञान।

मनुष्य की चेतना, उसके 'मन के विचरण' के कारण होती है।

साधारण मनुष्य का मन, इन्द्रियों के क्षेत्र की क्रियाओं में ही रहता है। अत: उसका ज्ञान इन्द्रिय जगत के क्षेत्र की क्रियाओं का होता है। दस इन्द्रियों के क्षेत्र की क्रियाशीलता को ही, वह कर्म समझता है।

विश्व ब्रह्माण्ड की हर प्राकृतिक उत्पत्ति, चक्रीय गति में रहती है।

अर्थात् क्रियाशीलता हर क्षण, हर जगह है। इन्द्रिय जगत की प्राकृतिक उत्पत्तियों की क्रियाशीलता के साथ साथ कुछ पराजगत की प्राकृतिक उत्पत्तियों की क्रियाशीलता का उल्लेख भी हुआ। क्रिया; किसी के द्वारा हो-'आभास की शक्ति', मात्र मन में है और वह भी केवल उस समय-जब किसी 'मन' विशेष का ध्यान उस क्रिया की ओर जाय। अर्थात् किसी भी क्रिया का आभास, तब तक संभव नहीं-जब तक स्वयं मन, क्रियाशील न हो।

अभ्यास करने की शक्ति ही, चेतना है।

चेतना, मन के विचरण द्वारा उभरती है।

यही मन के द्वारा हुए कर्म का महत्व है।

मन की गतिशीलता का क्षेत्र ही विश्व ब्रह्माण्ड है।

विश्व ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई जगह नहीं-जहां शक्तिशाली मन, न पहुंच सके।

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सदग्रन्थहि गावा।

किसी भी शरीर में विराजमान मन, जितना शक्तिशाली है-

वह उतना ही भाग्यवान है।

मनुष्य से ज्यादा भाग्यवान-कोई जीव, हो ही नहीं सकता।

मनुष्य का मन, विश्व ब्रह्माण्ड के समस्त क्षेत्रों में विचरण कर सकता है। वह वास्तव में ऐसा करे-इसके लिए उसे कुछ कर्मों का अभ्यास करना पड़ता है।

आज का विज्ञान सारे संसार को बता चुका है कि; इस सृष्टि का हर पदार्थ सूक्ष्म और स्थूल पर्तों में बंटा हुआ है। सूक्ष्मतम क्षेत्र में सबसे बड़ी शक्ति है। पदार्थ का सूक्ष्मतम कण, जिसमें पदार्थ के सारे गुण पाए जायं - परमाणु (Atom) के नाम से जाना जाता है। इस Atom की शक्ति को मनमानी जगह और मनमाने समय पर मनुष्य प्रयोग कर सके-यह Atom Bomb के आविष्कार द्वारा हुआ।

यदि हम अपना ध्यान निर्जीव पदार्थों से वनस्पति जगत की ओर ले जायं-तो भी एक साधारण मनुष्य जानता है कि; हम पृथ्वी में एक बीज बोते हैं। बीज अंकुरित होकर जड़ का रूप धारण करता है और यह जड़, पूरे वृक्ष में फैली होती है। इन्हीं जड़ों के माध्यम से वृक्ष के हर भाग को पोषण मिलता है-अर्थात् ये सूक्ष्मतम जड़ें ही, बीज के पूरे वृक्ष को पोषण पहुंचाने में सक्षम हैं।

पदार्थ के परमाणुओं में जो इलेक्ट्रान, प्रोट्रॉन और न्यूट्रॉन हैं-

मात्र उनकी गतिशीलता के कारण पदार्थ, पदार्थ है। अपने आप टूटता नहीं है - अत: अलग अलग पदार्थों का रूप, हमेशा बना रहता है। वनस्पति जगत में सूक्ष्मतम स्तर की गतिशीलता ही पेड़ के हर भाग को जीवन देने वाली हैं।

इन दो उदाहरणों को समझने के बाद, मनुष्य यह सोचने के लिए बाध्य हो जाता है कि स्वयं उसका जीवन भी सूक्ष्म और स्थूल कर्मों में बंटा हुआ है। यदि उसे शक्तिशाली बनना है-तो मात्र उसके मन को सूक्ष्म से सूक्ष्मतम क्षेत्र में क्रियाशील होने में सिद्ध होना पड़ेगा।

जो जितने ही सूक्ष्म क्षेत्र में अपने मन को विचरण कराने में, जितनी बड़ी सिद्धि प्राप्त कर लेगा-वह पृथ्वी का उतना ही अधिक शक्तिशाली मनुष्य हो जाएगा। शक्ति की चरम सीमा तक ब्रह्मा, विष्णु, महेश की शक्तियां हैं। सूक्ष्म क्षेत्र में मन के विचरण को 'ध्यान' कहते हैं।

कर्म-सूक्ष्म और स्थूल, दोनों होते हैं। सूक्ष्म कर्म मन को सूक्ष्म क्षेत्र की; और स्थूल कर्म मन को स्थूल क्षेत्र की चेतना प्रदान करते हैं। चेतना में ही ज्ञान है। चेतना, जागृत न होने से मनुष्य अज्ञानी रहता है। इस सत्य को ध्यान में रखकर, यदि हम आज के युग के साधारण मनुष्य के कर्मों की ओर देखें-तो आसानी से समझ में आ जाता है कि अधिकतर मनुष्यों का मन; या तो निद्रा की अवस्था में रहता है, या अपनी अपनी बुद्धि की मदद से इन्द्रियों के जगत में अपने जीवन का सुख ढूंढता रहता है।

ऐसे मनुष्य ही अज्ञानी हैं।

ऐसे मनुष्य को ही शास्त्रों में कहा गया है कि; वे माया के दल दल में फंसे हैं। इनकी कमजोरी का प्रमाण मात्र यह है कि; यद्यपि हर मनुष्य का हर कर्म अपने मन को संतुष्ट करने के लिए होता है-लेकिन धीरे धीरे जब मनुष्य, कलियुग से घोर कलियुग की ओर बढ़ता है-तो उसकी बुद्धि, मन और दसों इन्द्रियों की व्यस्तता बढ़ती ही जाती है। साधारण विश्लेषण से स्वयं उन व्यक्तियों की समझ में आ रहा है कि

इन व्यस्तता से मिली शारीरिक थकावट, बुद्धि की चिन्ताएं और मन की परेशानियां; उनके जीवन को-समय बीतने के साथ साथ खराब करती जा रही हैं-

फिर भी वे अपने को इन व्यस्तताओं से दूर नहीं रख सकते। जानते हुए भी कि; जीवन क्यों गड़बड़ हो रहा है? फिर भी अज्ञानी, कर्मों के क्षेत्र से अपने को अलग करने की असमर्थता को ही, फंसना कहते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि; कलियुग या घोर कलियुग में मनुष्य माया के दल दल में फंस जाता है। दूसरे शब्दों में दु:ख बढ़ाने वाले या असत्य कर्मों में ही व्यस्त रहता है। सत्य का कर्म तो वह है-जो जीवन में सन्तुष्टि तो बढ़ाये-लेकिन असन्तुष्टि न बढ़ाये। हमने ऊपर ध्यान की परिभाषा में देखा; जिस क्षेत्र में मन शक्तिशाली हो सके-

उस क्षेत्र में मन का विचरण ही ध्यान है।

शक्ति का स्रोत, ब्रह्म है।

अर्थात् जिस क्षेत्र में ब्रह्म की शक्ति हो–उस क्षेत्र में मन कर्म करे–या उस क्षेत्र में मन गतिशील रहे; इसी को ध्यान कहते हैं। सत्य के क्षेत्र में; अर्थात् शक्ति के क्षेत्र में मन स्वतन्त्रता की ओर बढ़ेगा। ज्यों ज्यों स्वतन्त्रता की ओर बढ़ते हैं–वह मन अधीनता से मुक्त तो होगा ही।

दस इन्द्रियों का क्षेत्र स्थूल क्षेत्र है।

कोई भी मनुष्य आसानी से समझ सकता है कि; विचारों का क्षेत्र क्रियाओं के क्षेत्र से सूक्ष्म क्षेत्र है। यह अनुभव कि; विचारों का क्षेत्र तो सूक्ष्म क्षेत्र है – विचारों का एक सागर प्रकृति ने हर मनुष्य को प्रदान किया है–जिससे कि हर मनुष्य, इस सागर में मन को स्वतन्त्र रख करके अपने को शक्तिशाली बना सके।

ऐसे कर्म को ही 'ध्यान' कहते हैं।

अभ्यास बढ़ने के साथ साथ मनुष्य, विचारों के सागर की सूक्ष्म पर्तों में अपने मन का विचरण कराने में सिद्ध होने लगता है। इन सिद्धियों के साथ साथ उसके मन में इन सूक्ष्म क्षेत्रों की चेतना जागृत होने लगती है। इस चेतना के जागृत होने के साथ साथ उसका 'मैं' भी धीरे धीरे सूक्ष्म पर्तों में विचरण करना सीख लेता है। इस तरह से 'मैं' सूक्ष्म पर्तों की शक्ति लेकर, जब स्थूल पर्तों में विचरण करेगा–तो सूक्ष्म विचारों के क्षेत्र की शक्ति के द्वारा, स्थूल क्षेत्र को पोषण मिलेगा। यह ऐसे ही होगा, जैसे–पेड़ की सूक्ष्म जड़ें; पेड़ के हर भाग का पोषण करती हैं।

इस अभ्यास को सत्युग में 'ब्रह्मचर्य का पालन' कहा गया है।

सत्युग में समाज की इस शिक्षा के साथ, हर बच्चे का जीवन आरम्भ होता था। सूक्ष्म चेतना–अर्थात् विचारों के क्षेत्र की चेतना के जागरण के साथ–इन्द्रिय जगत के सुखों का भोग ही, जीवन का कर्म कौशल है। स्वयं श्री कृष्ण भगवान ने भ० गीता (2.50) में कर्म कौशल का यही रास्ता दर्शाया है। सत्युग का हर व्यक्ति 25 वर्ष की आयु तक ऐसे अभ्यास के बाद ही गृहस्थ का जीवन आरम्भ करता था। ऊपर बताये हुए सत्य, हमें बताते हैं कि जीवन को सुखदायी बनाने की शक्ति तो उन कर्मों में है–जिन कर्मों में इन्द्रियों को मात्र आराम मिलता है। इन्द्रियां थकें–ऐसे कर्मों द्वारा जीवन का सुख ढूंढना, अज्ञानियों की बात है।

सत्युग में 25 वर्ष की आयु के ब्रह्मचर्य के जीवन के पश्चात, लगभग 25 वर्ष तक इन्द्रिय जगत के सुखों के भोग का विधान था। मनुष्य जब तक किन्हीं दो वस्तु को नहीं देखता–तब तक वह कैसे कह सकता है कि; क्या ज्यादा अच्छा है? जो व्यक्ति केवल इन्द्रिय जगत के सुखों से परिचित है–वह केवल इन्द्रिय जगत के; और बड़े सुख की ओर भागता रहेगा और जीवन को नष्ट करता रहेगा। लेखक कहना यह चाहता है कि

विचारों के सागर के सूक्ष्म पर्तों की चेतना जागृत करते समय, यदि इन्द्रियां क्रियाशील हैं ही नहीं–तो इस क्षेत्र का सुख तो केवल मन को मिलेगा।

इन्द्रियों की मदद का प्रश्न ही नहीं उठेगा। सत्युग की वैदिक शिक्षा इतनी उच्च कोटि की थी कि; पहले ब्रह्मसुख से परिचित होकर, यदि मनुष्य इन्द्रियसुख की ओर आयेगा–तो भरपूर इन्द्रिय सुख का भोग तो होगा; लेकिन यह अनुभव कभी नहीं होगा कि; ब्रह्मसुख को छोड़कर इन्द्रिय सुख की ओर भागे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलेगा कि 25 वर्षों तक, इन्द्रिय सुख का भोग करते करते इन्द्रिय सुख के भोग की इच्छा अपने आप कम हो जाएगी।

ऐसी स्वाभाविक या प्रयासहीन अवस्था को

पुराणों में वानप्रस्थ की अवस्था बताया है।

लेखक इस लेख द्वारा साधकों को समझाना चाहता है कि वैदिक शिक्षा, समाज की व्यस्तता द्वारा मनुष्य को शक्तिशाली बनाता था। इन्द्रिय सुख में व्यस्तता धीरे धीरे कम होगी और लगभग दूसरे 25 साल में वह; नहीं के बराबर हो जाएगी।

यही सन्यास की अवस्था है।

साधकगण के लिए यह समझना आसान है कि; मन तो सोते हुए भी कर्म कर रहा है–क्योंकि वह गतिशील तो है ही और; मात्र इसी गतिशीलता के कारण, हर व्यक्ति निद्रा की सत्यता से परिचित है–या यह कहें कि उसे निद्रा का ज्ञान है। बिल्कुल इसी तरह से वह स्वप्न की अवस्था का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है और जागृत अवस्था का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यदि वह चौथी चेतना या विचारों के क्षेत्र

की शक्ति को अनुभव करने की चेतना जागृत नहीं करता-तो उसका मन हमेशा असन्तुष्ट ही रहेगा। ऊपर हमने यह भी देखा कि विचारों के क्षेत्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म पर्तों की चेतना जागृत करने के लिए, सत्युग के मनुष्यों को सौ साल दिए गए। मनुष्य के जीवन में तीन चेतनाएं तो प्रकृति की देन हैं।

साधना द्वारा उसे चौथी चेतना जागृत करनी है-जिसे पुराणों में आन्तरिक चेतना कहा गया है और लेखक ने अपने लेखों में इसे विचारों के सागर की सूक्ष्म से सूक्ष्म पर्तों की चेतना कहा।

निश्चित रूप से सूक्ष्मतम तो भावों से परे का क्षेत्र होगा-अर्थात् भावातीत क्षेत्र को अनुभव करने की चेतना जागृत करने वाला अत्यन्त शक्तिशाली मन होगा।

इन्द्रिय सुख के भोग के क्षेत्र में ब्रह्मसुख का अनुभव, पांचवीं चेतना होगी।

इन्द्रिय सुख की ओर खिंचाव कम होगा और ब्रह्मसुख की ओर खिंचाव मात्र मनुष्य के स्वभाव से बढ़ना-छठी चेतना है। अर्थात ऐसे सत्य का अनुभव-छठी चेतना है।

धीरे धीरे इन्द्रिय सुख की अभिलाषा का शून्य के निकट होना-सातवीं चेतना है।

पुराणों में भी इन सात चेतनाओं का उल्लेख पाया जाता है; लेकिन वह उल्लेख ऋषि मुनियों के शब्दों में है। समय बीतने के साथ साथ सामाजिक व्यक्तियों की अवस्था भी बदलती है-इस बदलाव के साथ साथ शिक्षक के शब्द भी बदलने चाहिएं और; इसी उद्देश्य से इस लेख में सातों चेतनाओं के कर्मों का उल्लेख, लेखक ने अपने शब्दों में किया है।

पिछले लेखों में संत तुलसीदास की चौपाई द्वारा व्यक्त, 'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता', समझाने का प्रयास किया था और बताया था कि; बहुधा लोग इसका यही अर्थ निकालते हैं कि जो अच्छे कर्म करेगा-उसका जीवन अच्छा होगा और जो बुरे कर्म करेगा-उसका जीवन खराब होगा। लेखक ने यह भी हमेशा समझाया कि

ज्ञान, मात्र चेतना में है।

अत: आज के समाज की चेतना-दूसरे शब्दों में इन्द्रिय जगत की चेतना का यही ज्ञान है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा है और बुरे कर्मों का फल बुरा है। लेकिन समाज में यह बात भी हमेशा कही जाती है कि; विधाता तो दया का सागर है। इसका यह अर्थ निकला कि; हमारे पिछले कर्म गलत थे-तो भी विधाता, उन्हें माफ कर देगा। प्रश्न उठता है कि विधाता कौन है, कहां हैं, किसे माफ करेगा और किसे माफ नहीं करेगा ? लेखक कहना चाहता है कि

विधाता उच्च स्तर की चेतना में है-चौथी चेतना में है-

वह पहले ही पुराण का कथन बता चुका है।

''शिवं, शातं, अद्वैतं, चतुर्थम् मनयन्ते है आत्मा।''

आत्मा ही परमात्मा है। जिस मनुष्य के कर्म, उसके मन को ऊपर बताए हुए जीवात्मा के क्षेत्र में ले जाएंगे-उस मनुष्य की जीवात्मा-अर्थात् 'विधाता' अवश्य माफ कर देगा-चाहे पहले वह जितना ही बड़ा पापी रहा हो।

इसीलिए लेखक हमेशा, 'निज कृत कर्म'
पर ही सबसे अधिक बल देता है
और ज्यादा से ज्यादा समय के लिए सूक्ष्म कर्मों में
व्यस्त रहने की सलाह देता है-
जिससे कि हर साधक, अपने अन्दर के विचारों के सागर की
सूक्ष्म से सूक्ष्म पर्तों की चेतना जागृत करके
अपना जीवन सफल बना सके।

\- - - - - - - - - - -

दिव्य लोक

यह सृष्टि तीन भागों में बंटी हुई है।

एक भाग वह है, जिसे मन इन्द्रियों के माध्यम से अनुभव करने में सक्षम है। इस भाग को इन्द्रलोक या अपरा प्रकृति कहते हैं। हर मनुष्य यह भी महसूस करता है कि उसके पास एक मन है, बुद्धि है और ये इन्द्रियों द्वारा महसूस नहीं होते। वह यह भी महसूस करता है कि उसके आन्तरिक जगत में कुछ पुर्जे काम करते हैं और जब तक ये क्रियाशील हैं, तभी तक हमारे शरीर के अंग ठीक ठीक काम करते हैं। लेकिन इन पुर्जों की अनुभूति वह इन्द्रियों द्वारा नहीं कर पाता। इस तरह से हर मनुष्य में एक विश्वास जागृत होता है कि इन्द्रियों से परेजगत भी है।

ये दोनों जगत बदलने वाले जागृत हैं और इन बदलने वाले जगतों का आधार परा से पराजगत है, जो निर्गुण निराकार है और सृष्टि के समस्त अस्तित्व का भी आधार है।

आज के समाज के ज्यादातर व्यक्ति इन्द्रिय जगत के साथ साथ एक दिव्य जगत में विश्वास रखते हैं।

इस दिव्य जगत की शक्ति को ही, ईश्वरीय शक्ति मानते हैं। तरह तरह के देवी देवताओं के पूजन में व्यस्त रहते कुछ लोग; कुछ क्रियाओं और वस्तुओं की मदद से तरह तरह के यज्ञों द्वारा भी; इसी देवलोक की शक्ति को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

लेखक यह बताना चाहता है कि पराजगत और 'परा से पराजगत'; ही दिव्यलोक है और यहीं सारे देवताओं का वास है।

उपरोक्त जगत सूक्ष्म जगत है; अर्थात् इस जगत में मात्र इन्द्रियों से अनुभव न होने वाली शक्तियां हैं। अत: इनमें इन्द्रियों द्वारा अनुभव होने वाली वस्तुओं का तो सवाल ही नहीं उठता।

यही इस बात का प्रमाण है कि दिव्यलोक के देवतागण मात्र प्रकृति की शक्ति के रूप में हैं। प्राकृतिक नियमों के रूप में ये हर क्षण क्रियाशील रहते हैं। ध्यान के अभ्यास द्वारा हम इस जगत से

ही सम्पर्क स्थापित करते हैं। इस पूरे जगत की सामूहिक चेतना; स्वयं है।

जब ध्यान के पश्चात्, मन क्रियाओं के जगत में वापस आता है-तब हमारे 'मैं' को 'स्वयं' का कुछ ज्ञान हो जाता है। अभ्यास (Meditation) द्वारा करोड़ों बार आन्तरिक जगत में सम्पर्क स्थापित करके; क्रिया के क्षेत्र में वापस आकर क्रिया करने से 'मैं' दिव्य शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करने लगता है। दूसरे शब्दों में

समस्त देवगण हमारे 'मैं' से सामंजस्य स्थापित करने लगते हैं और धीरे धीरे हमारे प्रिय भोगों को बिना मांगे हमें देने लगते हैं।

हमारे प्रिय भोग मात्र हमारी इच्छाओं के रूप में रहते हैं और इन इच्छाओं की पूर्ति ही प्रिय भोगों को पाना है। हमारे प्रिय भोग; इन्द्रिय सुख (Pleasure) के रूप में भी हो सकते हैं और ब्रह्म सुख (Bliss) के रूप में भी हो सकते हैं। इन्द्रिय सुख के भोग; बिना स्थूल पदार्थों के संभव नहीं है।

लेकिन पराजगत में स्थूल पदार्थों की सम्भावना ही नहीं।

शक्तियों की सूक्ष्मता भी इतनी है कि स्पर्श इन्द्रिय भी उसे महसूस करने में मदद नहीं करतीं। कहने का अर्थ यह है कि इन्द्रिय जगत की ठंडक और गर्मी जैसे सूक्ष्म शक्तियों को महसूस करने में स्पर्श इन्द्रिय मदद करती है। लेकिन पराजगत या दिव्य जगत की शक्ति को महसूस करने में स्पर्श इन्द्रिय भी मदद नहीं करती। जो व्यक्ति मात्र तीन अवस्थाओं (अर्थात् घोर निद्रा, स्वप्न और जागृत अवस्था) में रहते हैं। उनका मन इन दिव्य शक्तियों को महसूस करने योग्य नहीं है। इन तीन अवस्थाओं में रहने वाले व्यक्ति, केवल लम्बे समय (लगभग 15 से 20 साल) तक ध्यान के अभ्यास के बाद; मन में ब्रह्मतत्व पिरोकर दिव्य शक्तियों को अनुभव करने वाली शक्ति, मन में पैदा करते हैं। इस तरह से यह प्रमाणित होता है कि

दिव्य शक्तियों को अनुभव करने की शक्ति भी

मन को दिव्य शक्ति ही प्रदान करती है।

अन्यथा स्वयं मन भी दिव्यशक्ति को अनुभव नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में मन; मात्र दिव्य शक्ति की मदद से दिव्य जगत को अनुभव करने की शक्ति प्राप्त

करता है। जब यह शक्ति मन को प्राप्त हो जाती है, उस समय मन एक विशेष सुख में लीन रहने लगता है-जिसे पराजगत का सुख (Bliss) कहते हैं, या ब्रह्म सुख कहते हैं। यह ब्रह्म सुख ही; हमारे सारे प्रिय भोगों को हमें देगा-जो कि हमारी इच्छाओं के रूप में हमारे मन में हैं। यदि ये सुख इन्द्रिय सुख के रूप में है और सुख के भोग के लिए स्थूल पदार्थ आवश्यक हैं-तो स्थूल जगत के सारे स्थूल पदार्थ भी प्रदान करेगा।

यह समझना बहुत आसान होगा कि ब्रह्म सुख (Bliss) ; मात्र शक्ति (एनर्जी) के रूप में ही होगा। इस शक्ति की उत्पत्ति दिव्य शक्ति के मन में पिरोने से होगी। इस सृष्टि में मात्र यही एक शक्ति है-जो इच्छाओं के सम्पर्क में आते ही; इच्छाओं की पूर्ति हेतु पदार्थ (मैटर) में भी बदल जायेगी। इन एनर्जी को मैटर में बदलने की प्रक्रिया, दिव्य शक्ति की देन है। प्रकृति; स्थूल जगत में भी प्राकृतिक शक्ति को मैटर में बदलने में सक्षम है। स्थूल जगत की इन प्रक्रियाओं को हम इन्द्रियों की मदद से भी अनुभव करते हैं।

उदाहरण के लिए हम एक बीज जमीन में डालते हैं। बीज अंकुरित हो जाता है। जड़े; जमीन-खाद-पानी से एक (Sap) की उत्पत्ति करती हैं।

यह (Sap) ; पदार्थ नहीं केवल एनर्जी (शक्ति) है।

यह पूरे पेड़ को बनाने में सक्षम है। यह Sap; तना, डाली, पत्ती, फूल फल-जिन्हें हम आंख से देख सकते, हाथ से छू सकते, नाक से सूंघ सकते और इसका स्वाद भी ले सकते हैं। दूसरे शब्दों में प्रमाणित है कि यह पदार्थों को प्रदान करती है। इस तरह हम आसानी से अनुभव कर सकते हैं कि; प्रकृति की शक्ति किस प्रक्रिया द्वारा शक्ति से मैटर में बदल जाती है? यह सिद्धान्त प्रकृति का है। इसलिए एनर्जी का मैटर में बदलने की प्रक्रिया; इन्द्रिय जगत और पराजगत में, एक ही रहेगी।

दिव्यलोक, ब्रह्मलोक या पराजगत की जमीन; मन है।

हमारी इच्छाएं इस जमीन के बीज हैं।

शक्ति; जो प्रयासहीनता के अभ्यास द्वारा मन में पिरो जाती है-पिरोने के पश्चात् मनुष्य, उसे ब्रह्मसुख (Bliss) के रूप में अनुभव करता है। जितना ब्रह्मसुख

अनुभव होता है-मात्र उसी अनुपात में यह ब्रह्म सुख कुछ इच्छाओं की पूर्ति कर देगा। यदि मनुष्य इस अभ्यास द्वारा ऐसी अवस्था तक पहुंचा जाय कि वह हर समय ब्रह्मसुख की चरम सीमा में लीन रहने लगे-तो वह निश्चय ही अपनी समस्त इच्छाओं को तत्काल पूरी करने में सक्षम हो जाएगा। यदि इच्छाओं की पूर्ति में कुछ पदार्थों की आवश्यकता है-तो ब्रह्म सुख; मात्र इच्छाओं के सम्पर्क में आने पर-ऊपर बतायी गयी प्रक्रिया के माध्यम से-पदार्थ में बदल जाएगा। इच्छाओं की पूर्ति उपरोक्त प्रक्रिया द्वारा ब्रह्म सुख की तीव्रता बढ़ने के साथ; और कम समय में होने लगती है। अत: ब्रह्म सुख की चरम सीमा आने पर इच्छाओं की पूर्ति तत्काल हो जाती है। हमारे अध्यात्म के इतिहास में ऐसी न मालूम कितनी घटनाएं मिलती हैं। उदहारण के लिए

1) श्री कृष्ण के मित्र सुदामा उनसे मिलने गए। जब वहां से लौटे-तब उन्होंने देखा कि उनकी कुटिया की जगह एक बहुत बड़ा महल खड़ा था, जिन्हें पहचानने में वे स्वयं सफल नहीं थे।

2) अश्वस्थामा ने ब्रह्मास्त्र पाण्डवों को खत्म करने के लिए छोड़ा। महर्षि व्यास की बीच बचाव करने पर उन्हें ब्रह्मास्त्र को वापस बुलाने के लिए मजबूर किया गया। तब अश्वस्थामा ने बताया कि वे ब्रह्मास्त्र को छोड़ना और उसकी दिशा मोड़ना तो जानते हैं, लेकिन वापस बुलाना नहीं जानते। यह बताकर उन्होंने ब्रह्मास्त्र को उत्तरा के गर्भ में पल रहे बच्चे का जीवन लेने की ओर मोड़ दिया। तब इसी बच्चे को जीवनदान कृष्ण ने मात्र इच्छा शक्ति द्वारा दिया।

3) एक बार विश्वामित्र ने एक ब्राह्मण को राजा हरिश्चन्द्र और उनकी पत्नी के साथ अपना कर्ज वसूलने हेतु लगा दिया। एक दिन जब उनकी पत्नी जंगल में थी-हरिश्चन्द्र की अनुपस्थिति में वह ब्राह्मण, तेज भूख लगने का नाटक करने लगा और धमकी दी कि; यदि भूख से उसकी मृत्यु हो गयी तो ब्रह्म हत्या का पाप हरिश्चन्द्र की पत्नी को लगेगा। तब उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की कि वह उन्हें इस संकट से उबारे और; फलस्वरूप वहीं-जिस पेड़ में एक भी फल नहीं था, तत्काल फलों से लद गया।

4) रामायण पढ़ने वाले कुछ साधकों का कहना है कि जिस समय राम और

लक्ष्मण सीता की वाटिका में पधारे, बाग के सारे फूल और फल तत्काल पेड़ों में आ गए।

ये उदाहरण आध्यात्मिक इतिहास के हैं।

1) लेकिन इस कलियुग में भी, आज के महर्षि महेश योगी के गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती के विषय में यही कहा जाता है कि उनसे जब भी कुछ मांगा जाता था-वो एक तकिया के नीचे हाथ डालकर, जब हाथ बाहर लाते थे-तब वह वस्तु उनके हाथ में होती थी।

2) शिरड़ी के साईं बाबा द्वारा पानी को तेल में बदलकर चिराग जला देने की बातें भी उपरोक्त आध्यात्मिक घटनाओं जैसी पुरानी नहीं। इसलिए इन पर आसानी से विश्वास किया जाता है।

ऊपर हम लोगों ने देखा कि ब्रह्मसुख (Bliss), पराजगत की एक एनर्जी है-जो कि इच्छाओं के सम्पर्क में आने के बाद स्थूल पदार्थों में भी बदल जाती है। ऐसा, उसकी प्रक्रिया द्वारा होता है -जिस प्रक्रिया पर मृत्युलोक का पूरा वनस्पति जगत आधारित है। प्रश्न उठता है कि; वह कौन सी शक्ति है-जो स्वयं बिना किसी इच्छा की मदद के -जो रूप चाहे; धारण कर ले?

ऊपर लेखक ने पराजगत और 'परा से पराजगत', दोनों को दिव्य जगत कहा है। लेकिन यहां उपरोक्त सिद्धान्त समझने के लिए आवश्यक है कि हम 'परा से पराजगत' की शक्ति मन में पिरोने से पहले और पिरोने के बाद उसे अलग अलग नाम दें।

इस तरह हम देखते हैं कि पराजगत में दो शक्तियां है-एक दिव्य शक्ति और दूसरा ब्रह्मसुख। दोनों में अन्तर यह कि जब दिव्य शक्ति मन में पिरोती है-तब मन में ब्रह्मसुख की उत्पत्ति होती है और मन में चेतना या परा शक्तियों को अनुभव करने की शक्ति देती है। यही इच्छाओं के सम्पर्क में आकर पदार्थों में बनाने की शक्ति रखता है। लेकिन दिव्य शक्ति को कोई भी रूप धारण करने के लिए-न तो मन जैसे किसी जड़ की आवश्यकता होती और न ही किसी इच्छा के सम्पर्क में आने की आवश्यकता होती है।

इच्छाएं तो मनुष्य की संचित कर्मों की देन हैं।

इसलिए ये इच्छाएं; साधना द्वारा अपने को ब्रह्मस्वरूप बनाने वाले साधकों में तो रहती है, लेकिन उस दिव्य शक्ति में तो इसकी सम्भावना ही नहीं है - जिसने कभी मनुष्य का रूप ही धारण नहीं किया।

यह दिव्य शक्ति प्रकृति को हमेशा बैलेन्स में रखने वाली शक्ति है।

दूसरे शब्दों में कभी प्रलय न होने देने वाली शक्ति है। अर्थात् मात्र हर तरह का प्रलय रोकने के लिए-जिस तरह के रूप की आवश्यकता प्रकृति को होगी-यह दिव्य शक्ति समय समय पर अलग अलग रूपों में प्रकट होती रही है; और होती रहेगी।

यदि कभी रावण या कंस जैसा राक्षस किसी कारणवश, मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर आ जाता है-तो पृथ्वी को बैलेन्स करने के लिए राम और कृष्ण जैसा कोई अवतार भी हो जाएगा।

शिव पुराण और विष्णु पुराण में अजन्मे शिव और विष्णु के अवतार-इसी दिव्य शक्ति की देन हैं। जब दिव्य शक्ति ऐसा कोई रूप धारण करती है-तब उस रूप का पूर्ण विकास होने के बाद, उस रूप में बदलाव आना बन्द हो जाता है।

सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलयुग; एक युगों का चक्र है।

यह चक्र तो तभी टूटेगा जब पूर्ण प्रलय हो जाएगी। इसलिए यह समझना आसान है कि पृथ्वी से किसी भाग में प्रलय अवश्य आ जाय-लेकिन यदि पूर्ण प्रलय हो गया; फिर तो ब्रह्मा को सृष्टि ही फिर से रचनी पड़ेगी।

प्रकृति ऐसा कदापि नहीं चाहेगी।

यही हमें यह बताता है कि प्रकृति में एक सामंजस्य की शक्ति अति आवश्यक है-जिससे अनन्त द्वारा बनायी हुई सृष्टि, अनन्तकाल तक चलती रहे। इसी लिए दिव्य शक्ति; बिना किसी मन और मन में संचित कर्मों की मदद के रूप धारण करने की शक्ति, अपने में रखती है। दूसरे शब्दों में इस शक्ति का रहना अनिवार्य है।

इसीलिए आध्यात्मिक इतिहास भी; यही बताता है
कि सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के अनन्त चक्र होते रहेंगे।